SHAT-DAL

षट्-दल

(६ प्रतिनिधि एकाँकियों का संकलन)

सम्पादक

काशी नाथ दर
एम० ए० (सं०) एम० ए० (हिं०)

चमन लाल सपरू
एम० ए०

प्रकाशक

कपूर ब्रदर्ज़

हब्बाकदल, श्रीनगर (कश्मीर)

मूल्य २ रु० ७५ नये पैसे

SHAT-DAL

षट्-दल

(६ प्रतिनिधि एकाँकियों का संकलन)

सम्पादक

काशीनाथ दर
एम० ए० (सं०) एम०ए० (हिं०)

चमनलाल सपरू
एम० ए०

प्रकाशक

कपूर ब्रदर्स श्रीनगर काश्मीर।

मूल्य रु० २.७५

प्रकाशक—
कपूर ब्रदर्स,
श्रीनगर (काश्मीर)।

—मुद्रक
हीरो प्रेस,
चावड़ा बाजार, देहली।

प्रस्तावना (प्राक्कथन)

प्राचीन विद्वानों ने काव्य के दो भेद किये हैं दृश्य तथा श्रव्य। दृश्य काव्य के अन्तर्गत नाटक आते हैं। साहित्य की अभिव्यक्ति के जितने भी प्रकार हैं उनमें नाटक को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसका कारण यह है कि नाटक पढ़ा भी जाता है और देखा तथा सुना भी जाता है। अत: अधिक इन्द्रियों के उपयोग में आने के कारण उसका परिणाम अधिक स्थायी होता है।

प्राचीन लोगों का मत है कि नाटक की उत्पत्ति दैवी वरदान से हुई है। भरत-मुनी जो कि नाट्यशास्त्र के प्रणेता हैं उनका कथन है कि देवताओं ने ब्रह्माजी से कुछ मनोरंजन-सामग्री प्राप्त करने की प्रार्थना की। ब्रह्माजी ने उनकी इच्छा पूर्ति के निमित्त ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय कला और अथर्ववेद से रस लेकर नाटक की सृष्टि की। स्पष्ट है कि नाट्यकला का सृजन सर्वप्रथम संस्कृत साहित्य से ही हुआ। संस्कृत-काल की नाट्य परम्परा महान रही है। संस्कृत नाटकों को प्राय: रूपक की संज्ञा दी गई है। रूपक का अर्थ रूप धारण करना होता है। आंगिक वाचिक, आहार्य और सात्त्विक इन चार प्रकारों से रूप धारण किया जाता है।

संस्कृत-साहित्य में भी एकाँकी नाटक मिलते हैं जैसे भास का 'दूत-वाक्य', 'मध्यम-व्यायोग' आदि। परन्तु आधुनिक एकाँकी पश्चिम की प्रेरणा से लिखे गये हैं।

एकाँकी नाटक का आविर्भाव क्योंकर हुआ, इसपर कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है। परन्तु इससे पूर्व हिन्दी नाटक पर एकाध पंक्ति लिखना भी समीचीन दिखाई देता है। हिन्दी नाटक का प्रादुर्भाव भारतेन्दु के उदय के साथ ही हुआ सर्वप्रथम कुछ अनुदित नाटक भी सामने आये किन्तु शीघ्र ही मौलिक सामाजिक नाटक लिखे गए। हिन्दी के नाटककारों

-मुद्रक
प्रेस,
हली।

में श्री जयशंकर प्रसाद का नाम लिखने योग्य है। आपने हिन्दी नाट्य-साहित्य में एक युगान्तर लाया। आजकल भी हिन्दी का नाटक-साहित्य सन्तोषजनक है।

एकाँकी का जन्म वैज्ञानिक युग ने दिया। इस व्यस्त युग में मनुष्य के समय का मूल्य बढ़ गया है। बड़े-बड़े नाटकों, महाकाव्यों और उपन्यासों को सुनने का अवकाश आजके कल-युग में मनुष्य को प्राप्त नहीं फिर भी मनोरंजन के लिए वह कुछ चाहता है। एकाँकी नाटक इस विषय में मनुष्य का सहायक सिद्ध हुआ। रेडियो ने तो एकाँकीयों के लोकप्रिय होने में बड़ा सहयोग दिया।

एकाँकी कई प्रकार के होते हैं : रेडियो रूपक (फीचर) मोनोड्रामा (संस्कृत के आकाश भाषित जैसा), पेंटोमाइन (मूकाभिनय) आदि।

हिन्दी साहित्य में गत दो दशकों में एकाँकी का उल्लेखनीय विकास हुआ है। हिन्दी साहित्य के इस अंग की प्रगति को देखकर हमें विश्वास है कि एकाँकी का भविष्य आशामय एवं उज्ज्वल है।

हिन्दी में एकाँकी लिखने वालों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है परन्तु अब तक सफलता मिलने वालों में मुख्य निम्नलिखित हैं:- डा० रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर प्रसाद, उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचन्द्र माथुर, लक्ष्मी नारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, एस० पी० खत्री। इन सब की अपनी विशेषता है।

प्रस्तुत संकलन में उपर्युक्त एकाँकीकारों में से छः लेखकों की प्रतिनिधि रचनायें ली गई हैं। इसमें छात्रों की रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के नाटक हैं, जो कि अपने-अपने रचयिता की प्रमुख एवं प्रतिनिधि कृतियाँ हैं।

—सम्पादक

विषय-सूची

कलंक रेखा

रामकुमार वर्मा

परिचय —

डा० रामकुमार वर्मा

आलोचना के शुष्क क्षेत्र में कविता का माधुर्य उंडेलने का श्रेय डा० महोदय को ही है। इसी के साथ साथ "यही सबसे पहले एकांकी नाटककार है, जिन्होंने पश्चिमीय ढंग के नाटकों को हिन्दी की भाव-भूमि पर उतारा है।" वास्तविक अर्थों में एकांकी नाटकों का हिन्दी में इन्होंने ही श्रीगणेश किया। सन् १९३० से वर्माजी बराबर हिन्दी एकांकी साहित्य का मुख उज्ज्वल कर रहे हैं। इन्होंने सभी प्रकार के नाटक लिखे हैं—सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक तथा धर्म-भावना-प्रधान। यह सभी सफल भी रहे, और बहुतों का सुचारु रूप से अभिनय भी हुआ है।

आपके एकांकियों में काव्य का निखार पूर्ण रूप से उभर आया है; संवादों में सजीवता और मिठास है; नाटकीयता में कहीं पर भी शिथिलता नहीं आई है; आपमें छिपा हुआ कवि आपके एकांकियों को अधिक सरस और मर्मस्पर्शी बना देता है।

प्रस्तुत एकांकी हमारे गौरवपूर्ण राजपूत-इतिहास का एक स्वर्ण पृष्ठ है। कवि की पैनी कल्पना ने भारत के सुनहले अतीत में प्राण फूंक दिये हैं, और इसका अपने में हर प्रकार से पूर्ण और प्रांजल नाटकीय रूप हमारे सामने रखने का प्रयास किया है।

आपका जन्म मध्य प्रदेश के सागर जिले में संवत् १९६२ में हुआ, और आजकल आप मास्को (सोवियत संघ की राजधानी) विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक हैं।

कलंक-रेखा

संकेत

[राजस्थान का जौहर संसार के इतिहास की अद्वितीय घटना है। यह वह ज्वाला थी जो राजस्थान की नारियों के तेज के समक्ष फीकी पड़ गई और उसने उन नारियों को अपने अंक में उसी प्रकार स्थान दिया जिस प्रकार लाल मखमल की म्यान श्वेत चमकती हुई तलवार को अपने हृदय में स्थान देती है।

कुमारी कृष्णा का जौहर विष की ज्वाला में हुआ। वह ज्वाला, तीन बार प्रयत्न करने पर भी, कुमारी कृष्णा के तेज को न सम्हाल सकी। उत्सर्गमयी कृष्णा ने चौथी बार बलपूर्वक विष की ज्वाला में शयन किया।

राजस्थान कायर की भाँति देखता रहा कि उसकी रजत रश्मि व्यर्थ ही पृथ्वी में विलीन हो रही है। विद्युत् की चमकती हुई वह उज्ज्वल रेखा सारे राजस्थान के लिये कलंक-रेखा बन गई।]

नाटक के पात्र

महाराणा भीमसिंह	—	उदयपुर के महाराणा
महारानी चावड़ी	—	महाराणा भीमसिंह की पत्नी
कृष्णाकुमारी	—	महाराणा की पुत्री
देवला	—	कृष्णाकुमारी की सखी
जवानसिंह	—	महाराणा भीमसिंह के भाई
संग्रामसिंह	—	शक्तावत सरदार

सँपेरा और अन्य चार व्यक्ति

कलंक-रेखा

स्थान—उदयपुर

काल—२१ जुलाई, १८१०

समय—संध्या के ५ बजे

[राजमहल के समीप एक उपवन। जवानसिंह और देवला में बातचीत हो रही है। देवला फूल चुन रही है।]

जवानसिंह—(**विह्वल स्वर में**) एक बात पूछूँ, देवला ?

देवला—हाँ, कुँवर चाचा। लेकिन······

जवानसिंह—लेकिन क्या ?

देवला—मुझे राजकुमारी के लिए फूल चुन-चुनकर पूजा की सामग्री सजानी है। पहले उनके लिये फूल चुन लूं।

जवानसिंह—(**अप्रतिभ शब्दों में**) फूल-सी राजकुमारी के लिये फूल। (**सम्हलकर**) बहुत अच्छा। मैं सोच रहा था कि फूल के स्थान पर कहीं राजकुमारी ही पूजा की सामग्री न बन जायँ !

देवला—यह तो सच है, कुँवर चाचा ! जब राजकुमारी कृष्णा देव-प्रतिमा के सामने नत-मस्तक होती है, तो ज्ञात होता है, जैसे देव-प्रतिमा के चरणों पर एक सजीव फूल चढ़ा हुआ है।

जवानसिंह—(**सोचते हुए**) सजीव फूल···सजीव फूल। (**सहसा**) एक बात पूछूँ, देवला ?

देवला—हाँ, कुँवर चाचा ! लेकिन...

जवानसिंह—फिर लेकिन...?

देवला—हाँ, आजकल राजमन्दिर के विषय में बात पूछी नहीं जाती। या तो कही जाती है, या सुनी जाती है।

जवानसिंह—आजकल ऐसा क्यों, देवला ?

देवला—इसलिए कि प्रश्न का चिह्न बिच्छू के डंक की तरह टेढ़ा है, जिसमें ज़हर भरा रहता है। जब तक प्रश्न का उत्तर न मिल जाय, तब तक तो सन्देह के ज़हर में डूबा ही रहता है।

जवानसिंह—ठीक है, तो मैं सन्देह नहीं करूँगा, देवला ! मैं सन्देह नहीं करूँगा। मैं यही पूछना चाहता था, मैं यही सुनना चाहता था कि कृष्णाकुमारी का विवाह······

देवला—(बीच ही में) बस, कुँवर चाचा। आगे नहीं, आप कुँवर हैं, फिर भी राजपूती रक्त इस वाक्य को पूरा करने की शक्ति नहीं रखता। राजपूतों की आँखों की लाली कुसुम्मा पात्र में तैर रही है। विदेशियों के लिए हमारे शस्त्र मखमली म्यानों में गहरी नींद ले रहे हैं। ये प्रश्न रक्त से पूरे किए जाते हैं, शब्दों से नहीं।

जवानसिंह—(टूटते स्वर में) देवला ! तुम ठीक कहती हो, तुम ठीक कहती हो; लेकिन······लेकिन······

देवला— कुँवर चाचा। आप इतने घबराये हुए क्यों हैं ? आपके मुख से शब्द ठीक-ठीक निकलते भी नहीं। (गहरी नज़र से देखते हुए) अच्छा ! और यह कटार······यह कटार···आपने क्यों खोल रखी है ?

जवानसिंह—(घबराकर) यह कटार ? नहीं तो······नहीं तो···अच्छा ! यह कटार ? यह कटार ? जो मेरी कमर में है ? अरे, इसका मखमली म्यान खराब हो गया था। मैंने उसे निकाल दिया ! तुम्हीं ने तो अभी कहा था कि विदेशियों के लिए हमारे शस्त्र मखमली म्यानों में गहरी नींद ले रहे हैं। इसलिए मैंने पहले से

ही इस कटार का म्यान निकालकर फेंक दिया ।······और तुम्हारी सखी तो यहीं कहीं होगी । मुझे मिली नहीं ।

देवला—राजकुमारी पूजा के वस्त्र धारण करने गई हैं। उन्होंने मुझसे फूल चुनने के लिए कहा और···(लोगों की बातचीत का सम्मिलित स्वर, जो दूर से धीरे-धीरे पास आ जा रही है।)

एक स्वर—क्यों यह कैसा हुआ ?

दूसरा स्वर—वह कहाँ थी ?

तीसरा स्वर—क्या मर गई ?

चौथा स्वर—नहीं अभी जीवित होगी ।

(संपेरे की बीन सुन पड़ती है।)

जवानसिंह—(घबराए स्वर में) कुछ लोग आ रहे हैं। अच्छा देवला ! अब मैं जाता हूँ !

देवला—ठहरिए, ठहरिए; देखिए, बाहर कौन है ? क्या दुर्घटना हो गई, किसी को सर्प ने काट लिया ?

जवानसिंह—(विह्वल स्वर में) नहीं, नहीं······कोई दुर्घटना नहीं हो सकती । कोई दुर्घटना नहीं हुई । कृष्णा को यह मालूम न हो कि मैं···मैं···यहाँ आया था······! (दूर जाता हुआ स्वर) मैं यहां आया था ! (प्रस्थान)

देवला—(दुहराते हुए) कृष्णा को मालूम न हो कि मैं यहाँ आया था। (सोचते हुए) कुछ समझ में नहीं आता। कुँवरसिंह चाचा जवानसिंह कटार लेकर आए और चले गए। और······और कृष्णा को मालूम न होने पावे।···(बीन बन्द हो जाती है।)

नेपथ्य में एक स्वर—ज़हर तो सारे शरीर में फैल गया ।

दूसरा स्वर—अब तो वह हमेशा के लिये सो गई ।

तीसरा स्वर—बीन बजाने से क्या होगा ?

पहला स्वर—बीन बजाने से सर्प आ जायगा और काटी हुई जगह से ज़हर खींच लेगा।

तीसरा स्वर—न जाने साँप कहाँ होगा।

दूसरा स्वर—अरे, यह सब कहने की बात है। कहाँ का साँप और······और कहाँ का ज़हर खींचना।

तीसरा स्वर—हाय बेचारी मर गई ! अभी उमर ही क्या थी ?

पहला स्वर—भाग्य की बात।

(बीन थोड़ी देर तक बजती है)

देवला—(पुकारकर) ए बीन वाले। (बीन रुक जाती है) क्या इसे साँप ने काट लिया ?

बीन वाला—हाँ अन्नदाता। ज़हर चढ़ गया है !

देवला—तो इसका ज़हर नहीं उतार सकते ?

बीन वाला—अच्छा अन्नदाता। बीन बजाकर सर्प को बुला रहा हूँ। वही सारा ज़हर खींच लेगा।

देवला—ठीक है पर इसे यहाँ से दूर ले जाओ। यहाँ राजकुमारी के घूमने की जगह है। इस बेचारी स्त्री को देखकर राजकुमारी को दुःख होगा।

बीन वाला—अच्छा अन्नदाता। (अपने साथियों से) चलो जी, उठाओ। दूर ले चलो इसे।

(बीन बजती है। धीरे धीरे उसका स्वर दूर होता जाता है।)

देवला—(गहरी साँस लेकर) बेचारी स्त्री। दो घण्टे पहले हँस रही होगी। इस समय ज़मीन पर पड़ी है। ओह, कितना भयानक ज़हर है।

(राजकुमारी कृष्णा का प्रवेश)

कृष्णाकुमारी—देवला !

देवला—राजकुमारी !

कृष्णा—तुम फूल चुनने के लिए आई थी, यहीं रुक गई ?

देवला—(अपराधी के स्वर में) राजकुमारी। मैं……

कृष्णा—(बीच ही में) बीन सुन रही थी ? तेरा बचपन अभी तक नहीं गया। कौन था वह बीन वाला ?

देवला—कोई नहीं, राजकुमारी। साँपों का खेल दिखाता था। थोड़ी देर देखने लगी।

कृष्णा—पूजा के समय साँपों का खेल। ठीक है, साँप भी तो भगवान एक-लिंग के मस्तक के आभूषण हैं।

देवला—और राजकुमारी ! कुँवर चाचा भी आए थे।

कृष्णा—कुँवर चाचा ? जवानसिंह ? यहाँ ? किस लिए ?

देवला—मैं क्या जानूँ। उनकी कमर में खुली कटार थी !

कृष्णा—खुली हुई कटार ? अपनों के लिए या दूसरों के लिए ?

देवला—दूसरों के लिए तो शक्ति ही नहीं रह गई, अपनों के लिए ही होगी। और जाते समय मुझसे कह गए कि राजकुमारी को मालूम न हो कि मैं यहाँ आया था।

कृष्णा—अच्छा तो तू ने यह बात मुझसे क्यों कह दी ?

देवला—(हँसकर) मैं राजकुमारी की सखी हूँ, कुछ उनकी सखी तो नहीं हूँ !

कृष्णा—सच है, मेरी सखी मुझसे कोई बात नहीं छिपा सकती। लेकिन देवला, कुँवर चाचा कुछ कह रहे थे ?

देवला—बातों-ही-बातों में वह आप के विवाह की बात पूछना ही चाहते थे कि मैंने दूसरी बात छेड़ दी।

कृष्णा – (अस्फुट स्वर में) मेरे विवाह की बात ?

देवला—हाँ, मैंने कहा कि कुँवर चाचा ! आज कल राजमन्दिर के विषय में बात पूछी नहीं जाती, कही या सुनी जाती है ।

कृष्ण —सच देवला ! आज हमारे राजमन्दिर की स्थिति ऐसी है, जिसमें विवाह की बात मखमली म्यान की गहराई है, जिसमें कटार या तलवार छिपी रहती है । मुझे तो इसमें कोई रुचि नहीं है ।

देवला—ऐसा क्यों राजकुमारी ?

कृष्णा—देवला ! मैं चारों ओर एक विचित्र उदासी का अनुभव कर रही हूँ । पिताजी के मस्तक पर चिन्ता की रेखाएँ प्रतिदिन लम्बी होती जा रही हैं । माताजी मुझे देखकर न जाने क्यों आँसुओं से आँखें भर लेती हैं ! मैं कारण जानना चाहती हूँ, तो मुझे कोई ठीक ढंग से उत्तर ही नहीं देता । राजमन्दिर का सारा वातावरण जैसे सर्प की तरह कुण्डली मारकर बैठा है । कहीं मुझे डस न ले । तुम जानती हो, ऐसा क्यों है ?

देवला—मैं नहीं जानती, राजकुमारी !

कृष्णा—यदि तू नहीं जानेगी, तो कौन जानेगा, देवला ? यह आकाश की निर्मलता जैसे किसी संन्यासी की साधना है, जो संसार के ऊपर उठ चुकी है ! यह ठंडी वायु जैसे किसी तपस्विनी का आशीर्वाद है, जिसे संसार से विराग उत्पन्न होता है । और मेरे मन में उदासी ऐसी बैठ गई है, जैसे किसी का घर जल गया है और वह किसी पेड़ के नीचे सिर झुकाए बैठा है ।

देवला—राजकुमारी ! क्षमा करें । यदि समय का चक्र कभी उदासी की तरफ घूम जाय, तो क्या ऐसी बातें भी सोची जानी चाहिये, जैसी आप सोच रही हैं ? यह तो एक बादल है, जो चन्द्रमा के ऊपर आ गया । अभी आया है, अभी चला जायगा ।

कृष्णा—नहीं देवला ! यह एक बादल नहीं जो चन्द्रमा के ऊपर से चला जाय। यह तो चन्द्रमा के भीतर का कलंक है, जो उसके हृदय में समाकर बैठा है, सदैव के लिए। इससे उसे मुक्ति नहीं है।

देवला—राजकुमारी ! छोड़िये इन बातों को। देखिये, मैंने आपके लिए कितने सुन्दर फूल चुने हैं। यह जुही का फूल देखिये, जो सुगन्धि की साधना में इतना छोटा हो गया है। ऐसा ही तो आपका जी छोटा हो रहा है। लेकिन इसकी सुगन्धि आपके रूप की तरह चारों दिशाओं में फैली है।

कृष्णा—पर देवला—जुही के कितने फूल धूल में गिरे हुए हैं ? मिट्टी में मिलने के लिए ही तो यह रूप नहीं है ?

देवला—राजकुमारी ! यह फूल तो किसी के कण्ठ की श्री और शोभा बढ़ाएगा और देखिए, यह चम्पक, जिसके प्राणों की सुगन्धि उसके हृदय की पीत आभा में साकार हो उठी है। पर यह आपके चरणों की कान्ति भी नहीं पा सका······बेचारा चम्पक······

कृष्णा—इसके हृदय के पीले रंग में जैसे मेरा सुख-सूर्य अस्त हो रहा है।

देवला—नहीं राजकुमारी ! इसका यह पीतवर्ण आपके विवाह के हरिद्रा रंग का निमंत्रण है।

कृष्णा—(ग्लानि से) विवाह ! सभी लोग इसकी कामना करते हैं। मेरे मन में न जाने क्यों इसकी चाह नहीं है ! माली एक पौधे को अपने बाग में बड़े प्यार से इसलिए लगाए कि फूल निकलने के समय वह उस पौधे को किसी अपरिचित माली को सौंप दे।

देवला—संसार की परम्परा तो यही है, राजकुमारी !

कृष्णा—यह परम्परा मुझे नहीं चाहिए। देवला ! जा। देर हो रही है। इन फूलों की एक सुन्दर-सी माला गूँथ दे ! आज भगवान एकलिंग का कण्ठ इससे सजाऊँगी !

देवल।—राजकुमारी कण्ठ सजाने का ध्यान तो आपको आया ! (दबी हुई हँसी) जाती हूँ । (प्रस्थान)

कृष्णा—(उदास हंसी हंसकर) कण्ठ सजाने का ध्यान ! विवाह...परम्परा ! यह सब कुछ नहीं । (देखकर) अरे, पिताजी आ रहे हैं और माताजी भी साथ हैं ? मैं अलग हट जाऊँ । (अलग हट जाती है । महाराणा भीमसिंह और महारानी का प्रवेश)

महाराणा—यह एकान्त ठीक है । यही अपने प्राणों का क्रन्दन तुम्हें सुनाऊँगा, महारानी !

महारानी—महाराणा ! जिस राज्य की नारियों ने क्रन्दन नहीं किया, वहाँ महाराणा के प्राणों का क्रन्दन एक अनहोनी घटना है !

महाराणा—सचमुच महारानी ! आज बाप्पा रावल के सिंहासन का भार शृगालों के कन्धों पर है । सूर्य ने चमकने के लिए जुगनुओं से प्रकाश माँगा है और समुद्र अपने गर्जन के लिए झींगुरों का भिक्षुक है ! तभी तो महाराणा का हृदय आज क्रंदन करता है, जिसे शब्द भी अङ्गीकार करने में अपना अपमान समझते हैं ! वह क्रन्दन प्राणों में ही सिमट गया है और राजनीति का कगारों से पिस रहा है ।

महारानी—तब महाराणाजी ! मैं उन कगारों को काटूँगी । मैं क्षत्राणी हूँ, प्रलय की घटा बनकर ऐसी बरसूँगी कि उसमें कगारे ही नहीं, प्राणों के क्रंदन भी डूब जायेंगे ! और यदि वह नहीं डूबे, तो जौहर की लपटों से उनमें चिनगारियाँ भर दूँगी ! किन्तु मेवाड़ के मस्तक को मलिन न होने दूँगी !

महाराणा—तुम धन्य हो, महारानी ! किन्तु राजनीति जौहर से भी अधिक भयानक है । इस राजनीति की बाढ़ में चित्तौड़ की तीन चिताएँ डूब चुकी हैं, अब सारा उदयपुर डूबने को है ।

महारानी—किन्तु महाराणा ! जो अग्नि अभी शीतल नहीं हुई, वह जल की धारा में कैसे डूब सकती है ?

महाराणा—कृष्णा के विवाह के प्रसंग में !

महारानी—कृष्णा के विवाह के प्रसंग में ?

महाराणा—हाँ महारानी ! अमीरखाँ एक बड़ी सेना लेकर उदयपुर की सीमा पर लोहे की दीवार बनकर खड़ा हुआ है ! उसने चूड़ावत अजीतसिंह के द्वारा कहलाया है कि यदि आप अपनी कन्या का विवाह जोधपुर के महाराजा मानसिंह से नहीं करेंगे, तो मैं आपके राज्य को बरबाद कर दूँगा।

महारानी—किन्तु जब हम कृष्णा का टीका जयपुर के महाराजा जगतसिंह को भेज चुके हैं, तो जोधपुर के महाराजा मानसिंह से हम सम्बन्ध की बात ही कैसे कर सकते हैं ? और फिर अमीरखाँ को हमारे आपसी सम्बन्ध से क्या मतलब ?

महाराणा—महारानी राजनीति आग की ज्वाला है, जो चाहे जिस दिशा में जल सकती है। जो आग पाकशाला का श्रृङ्गार है, वह सारे घर को जला भी सकती है।

महारानी—लेकिन अमीरखाँ तो पहले उदयपुर-नरेश का सहायक था ?

महाराणा—अब जोधपुर-नरेश का मित्र है। महाराजा मानसिंह ने अमीरखाँ को घूस देकर अपनी तरफ मिला लिया है।

महारानी—तो अमीरखाँ से कहला दीजिए कि कृष्णा का सम्बन्ध जयपुर में स्थिर हो चुका है, अब जोधपुर से किसी प्रकार की बात नहीं हो सकती।

महाराणा—तो अमीरखाँ उदयपुर में आग लगा देगा। हमारी समस्त मातृ-भूमि ही जौहर की चिता बन जाएगी।

महारानी—तो क्या जयपुर-नरेश, जो हमारे सम्बन्धी होने जा रहे हैं, हमारी रक्षा न करेंगे ? युद्ध की छाया में ही हम अपनी बेटी का विवाह करेंगे ।

महाराणा—यह कैसे होगा, महारानी! जयपुर-नरेश के सरदारों में पहले से ही फूट है। वे जोधपुर के युद्ध से वापस चले आए हैं। हमारे सरदारों में भी फूट है। अब उदयपुर और जोधपुर की सम्मिलित सेना भी अमीरखाँ का कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

महारानी—अमीरखाँ इतना प्रचण्ड है ?

महाराणा—हाँ, और एक दूसरी कठिनाई भी है। यदि हम जयपुर के जगतसिंहजी के यहाँ टीका वापस माँगते हैं तो वह अपना अपमान समझकर हम पर आक्रमण कर बैठेंगे। इस प्रकार जयपुर और जोधपुर दोनों ही हमारे शत्रु होंगे और अमीरखाँ कभी इस ओर और कभी उस ओर से हमारे ऊपर मौत और आग बरसाने में पीछे नहीं रहेगा।

महारानी—तब क्या होगा ?

महाराणा—हमारी मातृभूमि श्मशान बनने की प्रतीक्षा में है। सिंधिया ने सदाशिवराव के द्वारा मेवाड़ से सोलह लाख वसूल कर हमारा कोष समाप्त कर दिया है। उदयपुर के पास शक्ति नहीं है कि वह युद्ध करे।

महारानी—तब उदयपुर प्राण देकर युद्ध करेगा।

महाराणा—किन्तु महारानी ! क्या एक कन्या के पीछे मेवाड़, अम्बर और मारवाड़ के हज़ारों वीरों को रक्त में डूब जाने दूँ ? जिन सरदारों ने वंशानुगत मेवाड़ की सेवा में अपना जीवन व्यतीत किया है क्या उनके पवित्र रक्त को पानी की तरह बह जाने दूं ? एक ओर कृष्णा का विवाह, दूसरी ओर सहस्रों वीरों के पवित्र रक्त के व्यर्थ बहाने का प्रश्न है।

महारानी—तो महाराणा ! आप अपने वीरों को बचाइए, राजस्थान की नारियाँ अपनी तलवार उठाएँगी ।

महाराणा—भावुक मत बनो, महारानी । राज्य की दृष्टि से सोचो कि क्या राजा अपने परिवार के एक व्यक्ति की रक्षा के लिए अपनी निरपराध प्रजा के सहस्रों वीरों का बलिदान कर दे ? अपनी कन्या की रक्षा में यदि अपनी मातृभूमि के विनाश के बीज बो दे, तो क्या भविष्य का इतिहास भीमसिंह के नाम पर नहीं थूकेगा ? कन्या के छोटे-से जीवन की हल्की साँस के लिए एक तूफान को निमन्त्रण दूं, जो बाप्पा रावल और महाराणा प्रताप की मातृभूमि के अंग-अंग क्षत-विक्षत कर दे ? एक सुकुमार शरीर की रक्षा के लिये लाखों शक्तिशाली शरीर युद्ध की अग्नि में जलाये जाएँ ? सहस्रों सिसोदियों की वीरता की ज्योति एक फूंक से बुझ जाने दी जाय ? एक लहराती हुई चिनगारी से सारे नगर में आग लग जाने दी जाय ?

महारानी—तो फिर आपने क्या उपाय सोचा है ?

महाराणा—उपाय ? मेरे लिए कोई उपाय नहीं है, महारानी ! मेरा राजमुकुट आज वह धूमकेतु है, जो उदास आकाश के मस्तक पर रखा हुआ है और जिसके उदय होने पर अमंगल और भय की आशंका होने लगती है । यह राजमुकुट, जो मुग़लों की तलवार के वेग से भी अपने स्थान से नहीं हटा, जो राजपूतों के रक्त की नदियों पर सदैव तैरता रहा; एक क्षण को भी न डूबा, आज मेरे आँसू की एक बूंद में डूबना चाहता है । महारानी, बचाओ (चीखकर) मुझे इस कलंक से बचाओ ।

महारानी—महाराणा…

महाराणा—(बीच ही में) आज चित्तौड़ के जौहर की ज्वाला मेरे रोम-रोम में जल रही है । सिसोदियों की वंश-मर्यादा आकाश का हृदय चीरते हुए वज्र की तरह मेरे मस्तक पर गिरने जा रही है ।

(चीखकर) बाप्पा रावल, इस वंश को कलंकित करने वाले भीमसिंह को देख रहे हो ? उसके जीवन को मृत्यु का शृङ्गार दो। उसके कष्ट को प्रलय की अग्नि बना दो, जिससे वह एक क्षण में भस्म हो भाय।

महारानी—महाराणा, ऐसे अशुभ वाक्य मैं नहीं सुन सकूंगी। मैं स्वयं इसका उपाय खोजूंगी।

महाराणा—तुम किस प्रकार उपाय खोजोगी, महारानी ? एक ओर अमीरखाँ यमराज की तरह मृत्यु का जाल खोले खड़ा है, दूसरी ओर हमारे सरदारों की आपसी द्वेष-भावना ने एक-दूसरे का रक्त पीने का व्रत लिया है। हमारी शक्ति की तलवार टूट गई है, केवल मूठ हाथ में है। आज बाप्पा रावल की भूमि अपने सम्मान के लिये सतृष्ण नेत्रों से हमारे बाहुबल की ओर देख रही है, और हम अपनी निर्बलता में अपनी मातृभूमि की ओर देख भी नहीं सकते ! सिसोदिया-वंश की ऐसी दशा इतिहास में पहले कभी नहीं हुई।

महारानी—तो क्या हम अपनी मातृभूमि की रक्षा कर ही न सकेंगे ?

महाराणा—चूड़ावत सरदार अजीतसिंह ने मातृभूमि की रक्षा का एक उपाय प्रस्तुत किया है !

महारानी—कौन-सा ? (उतावली से) शीघ्र बतलाइए, शीघ्र बतलाइए !

महाराणा—मैंने वह प्रस्ताव स्वीकार न करते हुए कहा—अजीतसिंह तुम ······तुम अपनी तलवार उठाओ और अपने महाराणा का कलंक रक्त से धो दो। अजीतसिंह ने कहा······अजीतसिंह ने कहा—उदयपुर के महाराणा को कर्त्तव्य-वेदी पर अपना हृदय काटना पड़ता है। महाराणा लाखा ने मेवाड़ की बलि-माला में अपने पुत्रों के सिर फूलों की तरह गूंथे थे, महारानियों ने अपने पुत्रों को सुसज्जित कर रण-भूमि में भेजा था। आप एक पुत्री के लिए ही इतनी दुखी हैं ?

महारानी—एक पुत्री के लिए ?

महाराणा—हाँ, सभी कहते हैं कि इसके अतिरिक्त मेवाड़ का मान किसी प्रकार भी नहीं बचाया जा सकता।

महारानी—चूड़ावत अजीतसिंह का क्या प्रस्ताव था ? मैं शीघ्र सुनना चाहती हूँ, मैं शीघ्र सुनना चाहती हूँ !

महाराणा—ओह, मैं उसे कैसे कहूँ ? महारानी ! मेरे कण्ठ से उसकी ध्वनि नहीं निकल सकेगी !

महारानी—मातृभमि की रक्षा के लिए प्रत्येक बात कही और सुनी जा सकती है !

महाराणा—तो सुनो……अपना हृदय पत्थर का बनाकर सुनो ! अजीतसिंह ने यह प्रस्ताव किया कि अम्बर, मारवाड़ और मेवाड़ के सहस्रों सैनिकों के रक्त में मेवाड़ को नहलाने की अपेक्षा यह उचित होगा कि युद्ध का कारण ही दूर कर दिया जाय।

महारानी—कारण ही दूर कर दिया जाय ? मैं कुछ समझी नहीं।

महाराणा—बात यह है कि व्यर्थ के युद्ध की अपेक्षा यह अच्छा होगा कि कृष्णा को मृत्यु-दण्ड……

महारानी—(बीच ही में) ओह, महाराणा ! यह आप क्या……यह आप क्या कह रहे हैं ! बेचारी कृष्णा…मेरी कृष्णा को…मेरी कृष्णा को यह दण्ड। ऐसा नहीं हो सकता……ऐसा नहीं हो सकता……

(जवानसिंह का प्रवेश)

महाराणा—कौन ? कुँवर जवानसिंह ! तुम यहाँ हो। तुम्हारी कमर में खुली हुई कटार है, पर उस पर रक्त का कोई धब्बा नहीं है ? अब कटार पर मेरे रक्त का धब्बा लगेगा !

जवानसिंह—महाराणा ! मुझे क्षमा करो ! मैं कृष्णा के कक्ष में कटार ले-

कर गया था, लेकिन कृष्णा मुझे मिली नहीं ! देवला ने कहा कि वे स्नानागार में है । मैं वहीं से वापस लौट रहा हूँ ।

महारानी—(करुण स्वर में) मेरी कृष्णा, मेरी कृष्णा ! मैं कृष्णा पर यह दण्ड होते हुए नहीं देखूंगी ! मैं कृष्णा के पास जाऊँगी, अभी जाऊँगी ! मेरी कृष्णा (चीखते हुए) मेरी कृष्णा......कृष्णा (प्रस्थान) ।

महाराणा—(विह्वल कण्ठ से) गई ! माँ का हृदय !! माँ की ममता !!! कुँवर जवानसिंह अब इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है कि मैं अपने प्राण दे दूँ । न तो मातृभूमि की दुर्दशा ही देखूँगा न अपनी कृष्णा का प्राणदण्ड ही !!

[कृष्णाकुमारी का प्रवेश]

कृष्णा—(संयत स्वर से) यह तो बहुत सरल है, पिताजी ! आपकी कृष्णा हँसते-हँसते इस दण्ड को स्वीकार करेगी !

महाराणा—(चीखकर) ओह कृष्णा ! तू यहाँ कहाँ, मेरी बेटी ? तूने कुछ सुना तो नहीं ?

कृष्णा—मैंने सब कुछ सुन लिया है, पिताजी !

महाराणा—(विह्वल स्वर में) नहीं बेटी ! यह झूठ है, बिलकुल झूठ है ! जो अपनी शक्ति का लोहा शत्रु से नहीं मनवा सकते, ऐसी बातें कह सकते हैं ।

कृष्णा—नहीं पिताजी ! चूड़ावत अजीतसिंह ने जो प्रस्ताव किया है, वह अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए है । मैं प्रस्ताव से सहमत हूँ । आप मुझे प्राणदण्ड दीजिए ।

महाराणा—किस अपराध पर दूँ, बेटी ? तू मेरे हृदय से पूछ कि मैं संसार की सारी सम्पदा प्राप्त कर भी तुझे नहीं खोना चाहता ।

कृष्णा—किन्तु पिताजी, मातृभूमि सारे संसार की सम्पदा से भी अधिक मूल्यवान है और उसकी रक्षा मुझे प्राण देकर भी करनी चाहिए।

महाराणा—कृष्णा, तेरे प्राणों का मूल्य जानती है क्या है ? समस्त राजपूतों की कायरता का ज्वलन्त उदाहरण ! क्या तू राजपूतों को सदैव के लिए कलंकित करना चाहती है ?

कृष्णा—पिताजी, राजपूतों के मस्तक पर कलंक तो इस बात से लगेगा कि उन्होंने एक पुत्री के मोह में अपनी मातृभूमि के पवित्र मस्तक पर शत्रुओं के पैरों के चिह्न लग जाने दिए। क्या एक फूल को बचाने के लिए माली अपने सारे बाग में आग लगा दे ?

महाराणा—बेटी, तू मेवाड़ की शोभा है। तेरे बिना मेवाड़ श्मशान की भाँति हो जायगा। और तब वीरों की वाणी शृगालों के कोलाहल से अधिक नहीं रहेगी। उनकी तलवार बच्चों के खिलवाड़ की वस्तु बन जायगी।

कृष्णा—पिताजी, मेवाड़ की रही-सही जो शोभा है, उसे मेरे कारण भ्रष्ट न होने दीजिए। महारानी पद्मिनी के कारण मेवाड़ में मृत्यु नाची थी। उस इतिहास को दुहराने का अवसर न आने दीजिए, पिताजी ! ये सच्चे स्वामि-भक्त मेवाड़-निवासी, जिन्होंने वर्षों युद्ध और विपत्ति में मेवाड़ का साथ दिया है, मेरे अकेले जीवन के लिए युद्ध की बलि बनें ? मेरी सुन्दरता के पीछे ? जो आज है, कल नहीं। फिर यह आज ही समाप्त क्यों न हो जाय ? **(कुँवर जवानसिंह से)** कुँवर चाचा, निकालो अपनी कटार और सुन्दरता के छद्मवेश में छिपे इस जीवन को समाप्त कर दो······

महाराणा—**(क्रन्दन के स्वर में)** ओह, मुझसे यह देखा नहीं जायगा। नहीं जायगा। महारानी कहाँ है, कहाँ है महारानी ? **(पुकारकर)**

महारानी······ (जाते हुए) महारानी······महारानी······ (प्रस्थान)।

कृष्णा—(दृढ़ता से) कुँवर चाचा, मैंने सब बातें सुन ली हैं। अच्छा होता यदि मैं तुम्हें पहले ही मिल जाती और तुम अपना काम पूरा कर लेते। कुँवर चाचा, मातृभूमि की रक्षा के लिए राजस्थान की नारियों ने क्या नहीं किया ?

जवानसिंह—(करुण स्वर से) कृष्णा !

कृष्णा—कुँवर चाचा, यदि मैं पुत्री न होकर पुत्र होती, तो क्या आप मुझे मातृभूमि की रक्षा के लिए तलवार लेकर युद्ध में जाने की आज्ञा न देते ? मैं दुर्भाग्य से पुत्री हूँ, तो क्या मुझे अपनी मातृ-भूमि के लिए मरने की आज्ञा न मिलेगी ? मेरे कारण उदयपुर की भूमि अपवित्र हो, यह मैं सहन न कर सकूँगी।

जवानसिंह—(शान्त स्वर में) तू धन्य है ! तेरी-जैसी बालिकाओं से ही मेवाड़ की कीर्ति संसार में जागती रहेगी।

कृष्णा—तो कुँवर चाचा ! आप अपनी कटार उठाइये और रक्त के अमृत से मुझे अमर कर दीजिए।

जवानसिंह—बेटी, मैं क्या कहूँ ? चूड़ावत अजीतसिंह की इच्छा से और महाराणा की मौन स्वीकृति से ही मुझे यह क्रूर कार्य सौंपा गया है। बतला मैं क्या करूँ ?

कृष्णा—जो प्रत्येक राजपूत को करना चाहिए। जब जयपुर और जोधपुर दोनों ही उदयपुर के रक्त-पान का व्रत ले चुके हैं, तो उन्हें ऐसा रक्त देना चाहिए, जो उनके कण्ठ में आग की लपट बनकर उनकी तृष्णा सदैव के लिए शान्त कर दे।

जवानसिंह—तू ठीक कह रही है, बेटी। पर मुझसे तो यह न होगा······ यह न होगा।

कृष्णा—कुंवर चाचा ! आप राजाज्ञा की अवहेलना कर रहे हैं। मातृ-भूमि के अपमान के साथ-ही-साथ आप अपने महाराणा की भी अवज्ञा कर रहे हैं।

जवानसिंह—मैं इस अवज्ञा का दण्ड सहन कर लूँगा।

कृष्णा—पर कुँवर चाचा, मेवाड़ की जन्म-भूमि आपको कभी क्षमा नहीं कर सकेगी। अमीरखाँ की सहायता से जोधपुर और जयपुर हमारे नगर पर टूट पड़ेंगे और हमारी मातृ-भूमि श्मशान बन जाएगी। मैं कहती हूँ, कुँवर चाचा ! मेरी मृत्यु से जयपुर और जोधपुर दोनों राजवंशों का क्रोध समाप्त हो जायगा और शत्रुओं का हृदय ऐसी करुणा से भर जायगा कि उदयपुर पर आने वाली और विपत्तियाँ भी दूर हो जायँगी।

जवानसिंह—ऐसी बात है, तब कृष्णा, मैं यह राजाज्ञा पूरी करूँगा। झुकाओ अपना सिर, मैं एक ही प्रहार से इसे काटकर मेवाड़-भूमि को समर्पित कर दूँ।

कृष्णा—(हर्ष से गद-गद होकर) आप धन्य हैं चाचा ! ओह, आप कितने धन्य हैं ! अपने चाचा के हाथों से मैं मृत्यु का सुख पाऊँगी, इससे बढ़कर मेरा सौभाग्य और क्या होगा ? कुँवर चाचा ! आप कितने महान् हैं !

जवानसिंह—पर बेटी, मेरा हृदय काँप रहा है। अपने ही हाथ से इस सुन्दर बेटी को इस निर्दयता······

कृष्णा—कुँवर चाचा, आप भी तो तेजस्वी राजपूत हैं, आपका यह निर्बलता शोभा नहीं देती।

जवानसिंह—कृष्णा बेटी ! फिर हमारा इतिहास भी यह लिखेगा कि कुवर जवानसिंह ने—निठुर और कायर जवानसिंह ने—निरपराध

कृष्णा के रक्त से अपने हाथ कलंकित किये । नहीं कृष्णा, यह नहीं होगा ।

कृष्णा—पर आप चूड़ावत अजीतसिंह] के सामने इस कार्य को पूरा करने का वचन दे चुके हैं । राजपूत को अपने वचनों का पालन करना चाहिए ।

जवानसिंह—मैंने वचन अवश्य दिया था; पर कृष्णा ! तुझे देखकर उस वचन के प्रति मेरे मन में अपने आप ही घृणा होती है । और जब तूने कोई विरोध नहीं किया—क्रोध नहीं किया और भोली हरिणी के समान आत्म-समर्पण कर दिया, तो मैं किस शक्ति से तेरे कोमल शरीर को शिकारी की भाँति शस्त्र से बेध दूँ ? अमृत के कुण्ड में हलाहल की वर्षा कर दूँ । और कपूर के समान तेरे सुन्दर शरीर में लपकती हुई ज्वाला भर दूँ । इन हाथों को कलंकित करने······

कृष्णा—कुँवर चाचा, आप नारियों की करुणा लेकर मेवाड़ का उद्धार नहीं कर सकेंगे । और चाचा, वीरों के हाथ से कलंक भी साका बन जाता है । फिर यह तो बलिदान है, बलिदान से हाथ पवित्र होता है, कलंकित नहीं । यह बलिदान है । कुल लक्ष्मी की पूजा है ।

जवानसिंह—कुल-लक्ष्मी की पूजा !

कृष्णा—निस्सन्देह, कुँवर चाचा । यह कुल-लक्ष्मी की पूजा है, अर्चना है !

जवानसिंह—तो फिर, तो फिर उठाऊँ अपनी कटार ?

कृष्णा—कुँवर चाचा, आप धन्य हैं ! मातृ-भूमि की रक्षा के लिए आपका उत्साह ही कसौटी पर कसा गया है । मन की निर्बलता पर आपके राजपूती हृदय ने विजय प्राप्त की ।

जवानसिंह—तब यह रही कटार । इसे आज संसार के सबसे कोमल शरीर में प्रवेश पाने का सौभाग्य मिलेगा । मेरी कटार, तू धन्य है कि

आज राजस्थान में एक अमर बलिदान की विधातृ बन रही है। तेरी हल्की-सी गति से कठोर-से-कठोर चीज़ कटकर टुकड़े-टुकड़े हो सकती है। अब तू कृष्णा के शरीर की कोमलता से स्पर्श कर। उसका शरीर ही तेरा नवीन म्यान बन जाय।

कृष्णा—चाचा ! आपके हृदय की दृढ़ता अमर हो।

जवानसिंह—कृष्णा, तू मेवाड़ की स्त्रियों में धन्य है। इतिहास तेरे चरित्र से अनन्त काल तक प्रकाशित रहेगा। राजस्थान की नारियाँ तेरे यश के गीत गाएँगी। तेरा मरण राजस्थान का त्योहार होगा, पर्व होगा।

कृष्णा—चाचा, मैं मातृ-भूमि की वन्दना कर लूँ। मेरी मेवाड़ जननी ! मेरी शरीर धन्य है कि उसका रक्त तुम्हारे चरणों का प्रक्षालन करेगा। मुझे अपनी गोद में ही जन्म देना, जिससे मैं तुम्हारी रक्षा में अपने प्राणों की बलि फिर दे सकूँ। जननी जन्म-भूमि ! तुम्हें मेरा प्रणाम है !

जवानसिंह—कृष्णा !

कृष्णा—कुँवर चाचा, आपका हाथ क्यों काँप रहा है ?

जवानसिंह—नहीं कृष्णा ! मेरा हाथ भाग्य की तरह कठिन है। झुकाओ अपना सिर।

कृष्णा—मेरे सिर झुकाने से मेवाड़ का सिर ऊँचा हो। **(सिर झुकाती है)**

जवानसिंह—तो फिर यह उठी कटार। **(अपने हाथ के कड़े पर शब्द करता हुआ कटार ऊपर उठाता है)** जय एक लिंग।...... **(करुण स्वर में)** ओह ! मेरा हाथ काँप रहा है। यह कटार मुझसे सम्भल नहीं सकती। **(कटार के गिरने की आवाज़)** मैं हत्या नहीं कर सकता। इतने कोमल शरीर पर यह क्रूरता ? नहीं, नहीं !

कृष्णा—कुँवर चाचा ।

जवानसिंह—बेटी कृष्णा ! कुँवर चाचा को क्षमा करो । उससे यह काम नहीं होगा······ (प्रस्थान करते हुए) नहीं होगा······नहीं होगा······नहीं होगा ! (प्रस्थान) ।

कृष्णा—चले गए ? कहते हैं, मुझसे यह काम नहीं होगा······नहीं होगा, तो किससे होगा, तो किससे होगा ?

(देवला का प्रवेश)

देवला—राजकुमारी, कुँवर चाचा भागते हुए क्यों चले गए ? 'नहीं होगा,' 'नहीं होगा' कहते हुए निकल गए ।

कृष्णा—क्या बताऊँ, क्यों निकल गए ? देवला ! मेरा दुर्भाग्य सब जगह मेरा रास्ता रोक लेता है ।

देवला—अब तक आपकी उदासी नहीं गई, राजकुमारी ?

कृष्णा—उदासी ! उदासी नहीं देवला । यह तो जीवन का महान् पर्व है ।

देवला—तो राजकुमारी ! मैंने भी इस महान् पर्व पर आपकी इच्छानुसार एक बहुत सुन्दर माला गूंथी है । उससे भगवान एकलिंग की पूजा में शोभा आ जायगी ।

कृष्णा—बहुत बड़ी शोभा आ जायगी । तू बहुत अच्छी है देवला ! तू ने माला तो गूंथ ही ली, बस एक काम और कर ।

देवला—वह क्या, राजकुमारी ?

कृष्णा—भगवान एकलिंग के लिए विष का एक पात्र ।

देवला—(चौंककर) विष का पात्र ।

कृष्णा—हाँ देवला ! भगवान ने विश्व-कल्याण के लिए कितनी उमंग से मुस्कान के साथ विष-पान किया था, इसलिए उनका एक नाम नीलकण्ठ भी है । आज मैं भगवान को उन्हीं का प्रिय नैवेद्य लगाऊँगी । हलाहल विष ।

देवला—राजकुमारी ! हलाहल विष भी नैवेद्य की सामग्री है ।

कृष्णा—नैवेद्य की सामग्री तो भक्ति-भावना पर निर्भर रहती है । मेरी भक्ति उस सीमा पर पहुँच गई है, देवला ! जहाँ हलाहल भी नैवेद्य की सामग्री बन जाता है ।

देवला—किन्तु राजकुमारी ! विष को नैवेद्य की सामग्री बनाकर आदर न दीजिए ।

कृष्णा—क्यों ?

देवला—इसलिए, राजकुमारी ! कि नैवेद्य की सामग्री भगवान को अर्पित करने के बाद व्यर्थ नहीं जायगी । उसे महाप्रसाद मानकर ग्रहण करने की आवश्यकता होगी ।

कृष्णा—तुझे इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए ।

देवला--फिर उस नैवेद्य के प्रसाद को ग्रहण कौन करेगा ?

कृष्णा—मैं ।

देवला—आप ?

कृष्णा—हाँ देवला ! महाप्रसाद को ग्रहण करने में संकोच कैसा ? मैं उस महाप्रसाद को ग्रहण कर अमर हो जाऊँगी ।

देवला—किन्तु राजकुमारी मेरी प्रार्थना है कि इस प्रसाद को आप ग्रहण न करें । यदि ग्रहण करने की आवश्यकता होगी, तो मैं ग्रहण कर लूँगी । देवला के रहते राजकुमारी को यह अवसर न आयेगा ।

कृष्णा—तब तो तू स्वार्थी है, देवला । महापुण्य की भागिनी तू ही होना चाहती है और अपनी राजकुमारी के महापुण्य को तू ही छीनना चाहती है । स्वार्थी । (दबी हुई हंसी) ।

देवला—तब राजकुमारी ! हलाहल के पात्र की आज्ञा न दीजिए ।

कृष्णा—मेरी भक्ति-भावना पर कोई प्रश्न-चिह्न नहीं लगा सकता, देवला। तू स्वयं जानती है कि राजमन्दिर के विषय में बात पूछी नहीं जाती, या तो कही जाती है, या सुनी जाती है।

देवला—मैं जानती हूँ, राजकुमारी। इसीलिए प्रार्थना करना चाहती हूँ।

कृष्णा—कौन-सी प्रार्थना ?

देवला—यही कि यदि हलाहल विष को आप नैवेद्य की सामग्री बनाना ही चाहती हैं, तो उस महाप्रसाद का अभिसिंचन उस स्थान पर कर दिया जाय, जहाँ मेवाड़ की नारियों ने अपनी आत्म-रक्षा के लिए जौहर की ज्वाला जलाई थी। इस महाप्रसाद के पाने का अधिकार उन्हीं नारियों को हो, जिन्होंने मेवाड़ के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग किया हो।

कृष्णा—(दुहराते हुए) इस महाप्रसाद के पाने का अधिकार उन्हीं नारियों को है, जिन्होंने मेवाड़ के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग किया हो।

देवला—हाँ राजकुमारी।

कृष्णा—मैं तुझसे सहमत हूँ। तू जा, हलाहल प्रस्तुत कर।

देवला—जो राजकुमारी की इच्छा। (प्रस्थान)।

कृष्णा—देवला! बेचारी देवला! महाप्रसाद के नाम से सशंकित हो उठी। कहीं मैं पान न कर लूँ। किन्तु उसके कथनानुसार मैं भी तो उसे पान करने की अधिकारिणी हो सकती हूँ, जब मैंने अपने मेवाड़ के लिए जीवन उत्सर्ग करने का निश्चय कर लिया है।

[महाराणा और महारानी का प्रवेश]

महाराणा—महारानी।

महारानी—महाराणा। आपकी बातों से मुझे सन्तोष नहीं होता। मैं यह सब अपनी आँखों से कैसे देख सकूँगी।

महाराणा—(धीरे से) कुँवर जवानसिंह यदि असफल न होते, तो यह बात ही नहीं होती।

महारानी—जवानसिंह मनुष्य है। वह पशु नहीं हो गया है।

कृष्णा—किन्तु माँ। इतने मोह, इतनी ममता से भी राजपूत अपने जीवन का आदर्श पा सकता है? कुँवर चाचा ने मुझे निराश कर दिया। उन्होंने मुझे अपने कर्तव्य के पालन में सहायता नहीं दी। कहीं तुम भी ममता के वशीभूत हो मूझे कर्त्तव्य-मार्ग से विचलित न कर दो।

महारानी—कृष्णा! क्या तूने इसीलिए जन्म लिया था कि मैं अपनी आँखों के सामने यह भयानक कार्रवाई होते देखूँ?

कृष्णा—माँ! तुम वीर माता हो और मैं वीर कन्या हूँ। मैं भी तो अपनी मातृ भूमि की रक्षा का अधिकार रखती हूँ। मैं तुम्हारे अमृत को लज्जित नहीं करूँगी।

महारानी—बेटी! तू धन्य है। पर तेरा अपराध ही क्या है?

कृष्णा—माँ! बलिदान अपराध पर निर्भर नहीं है। मेवाड़ की रक्षा के लिए राजस्थान की नारियों ने क्या नहीं किया? माँ! तुम ऐसा आदर्श उपस्थित करो कि प्रत्येक माँ अपने मातृत्व में गौरव का अनुभव करे। माँ! तुम यह घोषणा कर दो कि माँ अपने शिशु को अमृतमय दूध पिलाकर बड़ा करती है, केवल इसलिए कि वह अपनी मातृ-भूमि की रक्षा में विष-पान कर सके! तुम मुझे एक विष का पात्र देदो, माँ!

महारानी—नहीं बेटी! यह मैं कभी नहीं कर सकूँगी। (सिसकती है)

कृष्णा—माँ ! क्या जौहर की ज्वाला में जलने से पहले माताओं ने अपनी गोद के बच्चों को चूमकर अग्नि में होम नहीं दिया ? तुम भी मुझे विष का प्याला देकर इस जौहर की परम्परा पर आँच न आने दो।

महारानी—बेटी, यह तू क्या कह रही है ! कहाँ मैं सोच रही थी कि कुछ दिनों में अपनी कृष्णा के विवाह का उत्सव मनाऊँगी। सारे राजस्थान की नारियों को निमन्त्रण दूँगी कि वह कृष्णा को सुहाग का आशीर्वाद दें। नगर की स्त्रियाँ धवल मङ्गल करके झरोखों में चढ़-चढ़कर गातीं, पट-मण्डप छाए जाते, मङ्गल-कलश बाँधे जाते; कृष्णा का रत्नों से शृङ्गार होता, मोतियों से माँग संवारी जाती; मैं महलों की जाली से सब उत्सव देखती। हाय ! मेरी कृष्णा। (सिसकने लगती है)

कृष्णा—(सांत्वना के स्वर में) माँ ! सिसोदिया वंश में सन्तान का मोह कलंक है। यह कलंक अपने ऊपर मत आने दो।

महारानी—(करुण स्वर में) बेटी, तुझसे मैं क्या कहूँ ! किन्तु क्या माँ भी अपनी बेटी को विष दे सकती है ?

कृष्णा—माँ ! आज मैं तुमसे अन्तिम वरदान माँगती हूँ, जो एक राजपूत रमणी अपनी पुत्री को उस समय देती है, जब उसका और उसकी मातृभूमि का सम्मान संकट में है। मेरी याचना स्वीकार करो !

महारानी—(सिसकते हुए) यह मुझसे कैसे होगा, बेटी ?

कृष्णा—माँ ! विष तो मैं स्वयं भी पी सकती हूँ; किन्तु माता के हाथ से पीने में वह विष भी अमृत हो जायगा। (आग्रह के स्वर में) माँ ! मेरी प्रार्थना मान लो। जिस शरीर की रक्षा नौ मास तक तुमने अपने उदर में इतनी सावधानी से की, क्या उसकी सम्मान-रक्षा अब तुम नहीं करोगी ? तुम माँ हो, बेटी की प्रत्येक प्रकार की रक्षा तुम्हें ही करनी है।

महारानी—(रोते हुए) मैं इसे कैसे अस्वीकार करूँ, बेटी ! पर मैं अपनी कृष्णा को विष कैसे दे सकूँगी ? (रोते हुए प्रस्थान)

कृष्णा—(महाराणा से) पिताजी ! आप इतने उदास न हों। आपने मेवाड़ की रक्षा करली है। आपने इस समय अपने विवेक का परिचय दिया है।

महाराणा—कृष्णा ! तू नहीं जानती कि इस समय मेरा हृदय कितना हाहाकार कर रहा है।

कृष्णा—नहीं, पिताजी ! राजस्थान में कन्याएँ तो जन्म से ही मृत्यु को सौंप दी जाती हैं। आपने मुझे इतने वर्षों का वरदान देकर मुझ पर कितना उपकार किया है। यह आपका दिया जीवन यदि आपके चरणों में ही समर्पित कर दूँ, तो यह मेरा कर्त्तव्य ही होगा।

महाराणा—(करुण स्वर में) कृष्णा !

कृष्णा—और पिताजी ! आज तक राजस्थान में नारियों ने न जाने कितने सम्मिलित जौहर किए हैं; यदि मैं आज अकेली ही जौहर करूँ तो क्या आपको सुख और सन्तोष नहीं होगा ? अपने पिता की.........(महारानी एक भरा हुआ पात्र लेकर आती है) ओह, तुम कितनी महान् हो माँ ! यह विष का प्याला लेकर तुम आ गईं। तुमने राजपूतों की माताओं के सामने ही नहीं, समस्त संसार की माताओं के सामने आत्म-सम्मान का उज्ज्वल आदर्श रखा है। माँ ! तुम धन्य हो ! (पात्र हाथ में लेती है) मेरा प्रणाम स्वीकार करो। पिताजी ! आपको मेरा प्रणाम है। प्राणों से अधिक प्यारी अपनी मेवाड़-भूमि के प्रति और प्रत्येक राजपूत-नारी के प्रति मेरी मंगल-कामना स्वीकार हो जय एकलिंग ! (भरा हुआ पात्र ओठों से लगाकर पी जाती है)

महाराणा—(चीखकर) कृष्णा, मेरी बेटी कृष्णा !

कृष्णा—(एक क्षण के बाद) माँ ! तुमने मुझे धोखा दिया है। विष के प्याले के स्थान पर तुमने कुसुम्मा का मधुर पात्र दे दिया। हाय री, माँ की ममता ! तुम्हारे इस प्रेम को मैं क्या कहूँ !!

महाराणा—क्या यह विष का पात्र नहीं है ?

कृष्णा—नहीं पिताजी ! विष-पात्र भी हो, तो वह स्नेहमयी जननी के हाथों से अमृत-पात्र हो जायगा। अब भगवान एकलिंग को मैं जिस विष का नैवेद्य लगाऊँगी, वही महाप्रसाद मैं ग्रहण करूँगी। वही मेरे भाग्य का सबसे बड़ा वरदान होगा। माँ ! अन्तिम विदा लेती हूँ। तुम्हें और पिताजी को प्रणाम ! जय मेवाड़······!! (प्रस्थान)

महारानी—(क्रन्दन के स्वर में) बेटी ! बटी !! कृष्णा !!! (पीछे-पीछे शीघ्रता से जाती है) (नेपथ्य में--बेटी, बेटी, कृष्णा !)

महाराणा—(शिथिल स्वर में) मेवाड़ को इस सुकुमार बलि की भी आवश्यकता थी !······यह राजपूतों के जीवन की सबसे बड़ी हार है। सबसे बड़ा कलंक है।

[नेपथ्य में हलचल होती है। शक्तवान सरदार संग्रामसिंह कहते हैं : मुझे मत रोको। मैं महाराणा से मिलकर ही रहूँगा।]

[खड़खड़ाहट के साथ संग्रामसिंह।]

संग्रामसिंह—महाराणा !

महाराणा—कौन, शक्तवान संग्राम सिंह ?

संग्रामसिंह—महाराणा ! क्या यह सच है कि चूड़ावत अजीतसिंह के कहने से आपने जवानसिंह को कृष्णाकुमारी की हत्या के लिए नियुक्त किया और वह सफल नहीं हुआ ?

महाराणा—मैं इसका उत्तर नहीं दे सकूँगा !

संग्रामसिंह—क्योंकि यह सच है। और क्या यह भी सच नहीं है कि कृष्णा-कुमारी ने राजपूतों को वीरता पर कलंक लगाने वाले कायरों और नपुंसकों की तरह समझा है और स्वयं विष-पान का जौहर अपने ऊपर लिया है ? क्या देवला का यह कथन सत्य नहीं है कि राजकुमारी ने आपकी चिन्ता दूर करने के लिए एक लिंग को हलाहल का नैवेद्य चढ़ाकर स्वयं उसे पीने का प्रण किया है ?

महाराणा—**(शिथिल स्वर में)** सत्य है, संग्रामसिंह ! अमीरखाँ से रक्षा पाने का और कोई उपाय नहीं था।

संग्रामसिंह—**(आदेश से)** तो यह कहिए कि राजपूत की तलवार का पानी उतर चुका। मेवाड़ की राजकुमारी अपने आत्म-सम्मान के लिए मृत्यु से सहायता माँगे और जौंक की तरह जीवन से चिपटे हुए राजपूत मातृ-भूमि का रक्त चूसते रहें ? और जब कृष्णा को मृत्यु-दण्ड दिया गया, तो आपने मेवाड़ के सैनिकों को आत्म-हत्या की आज्ञा नहीं दी ? आपकी कमर से यह तलवार लटकती रही और आपने इसके टुकड़े-टुकड़े नहीं किए ? असमर्थता का राग अलापने वाला पिता क्या कन्या से पहले विष-पान नहीं कर सकता था ?

महाराणा—**(चीखकर)** संग्रामसिंह !

संग्रामसिंह—मुझे किसी बात का भय नहीं है। मैंने महाराज शक्तसिंह के वंश में जन्म लिया है, जिन्होंने विपत्ति में महाराणा प्रताप की रक्षा की। मुझे विलम्ब से सूचना मिली, नहीं तो कृष्णा का जीवन घरौंदे की तरह नष्ट न किया जा सकता। और उस कायर-कलंकी अजीतसिंह का प्रस्ताव आपने माना ही क्यों ? क्या इससे सारी राजपूत-जाति हमेशा के लिए लांछित नहीं हुई ? क्या अमीरखाँ पठान ने मेवाड़ को नष्ट कर दिया ? और क्या बेचारी कृष्णा के

मरने से उदयपुर हमेशा के लिए सुरक्षित हो गया ? अमीरखाँ अगर सामने था, तो क्या अजीतसिंह अपने पूर्वजों की तरह मर नहीं सकता था ? मरने की चुनौती पर मैं—संग्रामसिंह—सबसे पहले पूर्वजों का ऋण चुकाता। लेकिना यह बात मुझसे छिपाकर रखी गई। अजीतसिंह ही आपका सर्वस्व था, जो तलवार लेकर शत्रुओं पर कूदना नहीं जानता, जानता है एक अबोध कन्या की हत्या से शत्रु के अट्टहास में अपनी निर्लज्ज हँसी मिलाना।

महाराणा—संग्रामसिंह, तुम सुनो।

संग्रामसिंह—नहीं सुनूँगा, महाराणा ! राजनीति की बातें सुनने का अवकाश नहीं है। जो राजा अपनी राजपुत्री की रक्षा नहीं कर सका, उसे नष्ट हो जाना चाहिए। जो पिता अपनी पुत्री की हत्या के षड्यन्त्र में शामिल हो, वह पिता······

महाराणा—खामोश, संग्रामसिंह।

संग्रामसिंह—यह लीजिए तलवार। इसे वापस लौटाता हूँ। (तलवार फेंकता है।) युगों से यह तलवार हमारे वंश में रही है। इसने उदयपुर की सेवा में सहस्रों मस्तकों को काटा है। हमारे पूर्वजों ने इसी से इस राजवंश की सेवा की है। कृष्णा की इस लज्जाजनक मृत्यु के बाद यह तलवार हमारे वंश में नहीं रहेगी। आज से हमारी तलवार इस राज्य से विदा हुई। इस गिरी हुई तलवार को तोड़ डालिये या अपनी कन्या के मृत शरीर पर इस तलवार से फिर प्रहार कीजिए। जय एकलिंग !

महाराणा—संग्रामसिंह, संग्रामसिंह······

[महारानी का देवला के साथ सिसकते हुए प्रवेश]

महारानी—(करुण कण्ठ से सिसकियाँ लेती हुई) मेरी कृष्णा, मेरी कृष्णा······अब इस संसार में नहीं रही······।

महाराणा—(विह्वल स्वर में) कृष्णा !

देवला—(सिसकते हुए) महारानी मूर्च्छित हो गई थीं। मेरे रोकने पर भी राजकुमारी ने तीन बार विष-पान किया। तीनों बार वमन के द्वारा वह निकल गया। अन्त में उन्होंने गहरी अफीम के कुसुम्मा को हंसते हुए पान किया। महाराज एकलिंग को प्रणाम कर वह सदा के लिए गहरी नींद में सो गई।

महारानी—(चीखकर) मेरी कृष्णा !

महाराणा—(कातर होकर) मुझे धिक्कार है।

महारानी—काला जहर उसके सारे शरीर में फैल गया। क्या कोई उस जहर को नहीं उतार सकता ?

(दूर पर संपेरे की बीन सुनाई पड़ती है)

देवला—साँप के जहर की तरह इसका जहर भी नहीं उतरेगा।

महाराणा—वह जहर अब नहीं उतर सकेगा, महारानी ! उसका जहर और मेरी कलंक रेखा सदा के लिए अमर हो गई।

[रानी की एक गहरी सिसकी। दूर से आती हुई संपेरे की बीन सुनाई पड़ रही है।]

भोर का तारा

जगदीशचन्द्र माथुर

परिचय—

जगदीशचन्द्र माथुर

माथुर महोदय बहुत ऊंचे अधिकारी होते हुए भी कभी-कभी अपने व्यस्त जीवन से कुछ समय निकालकर साहित्य-वाटिका की सिंचाई भी करते रहते हैं। हिन्दी के लिए यह कम गौरव की बात नहीं। आपका अनुभव विस्तीर्ण और अध्ययन विशाल है, इसीलिए जीवन के प्रति आपका दृष्टिकोण प्रौढ़, संयत और संतुलित हैं। इसी संतुलन के दर्शन हमें उनके एकाँकियों में मिलते हैं। "वे न तो पात्रों के रसावेश में बहते हैं। न विवेचना और तर्क की कसौटी पर नीरस ही बनते हैं।" एक स्वस्थ और आशावादी प्रगति के सन्देश को वे अपने नाटकों द्वारा मुखरित करते हैं और इस प्रगति में प्रेम और मानवता, पुरुष और नारी बराबर के साझीदार बनते है।

उनके विचार में बिलखती धरती पर पांव रखकर हंसते तारों की बातें करना न केवल असंगत है, अपितु घोर पाप है; कर्तव्य से विमुख होना है। जनता की धड़कनों के साथ अपनी धड़कनें मिलाना ही देश के लिए कल्याणकारी हो सकता है।

प्रस्तुत एकांकी में इसी तथ्य की ओर इशारा किया गया है। इस नाटक में 'ओज गुण' प्रधान है, जो राष्ट्रीयता के भाव को उदीप्त करने के लिए एक अमोघ साधन है। कथा-प्रवाह कलकल करती हुई नदी की तरह निर्बाध गति से आगे बढ़ता जाता है। कथोपकथन में चलती भाषा ने सजीवता के साथ मार्मिकता को जुटा दिया हैं।

आप आजकल 'आकाशवाणी' के डायरेक्टर-जनरल हैं।

नाटक के पात्र

शेखर—उज्जयिनी का कवि।

माधव—गुप्त साम्राज्य में एक राज्य-कर्मचारी (शेखर का मित्र)।

छाया—शेखर की प्रेयसी, बाद में पत्नी।

समय—सन् ४५५ ई० के आस-पास

स्थान—गुप्त साम्राज्य की राजधानी उज्जयिनी में एक साधारण कवि का घर।

भोर का तारा

: १ :

(कवि शेखर का गृह। सब वस्तुएं अस्त-व्यस्त। बांई ओर एक तख्त पर मैली फटी हुई चद्दर बिछी है। उस पर एक चौकी भी रखी है और लेखनी इत्यादि भी। इधर-उधर भोजपत्र (या कागज़) बिखरे हुए पड़े हैं। एक तिपाई भी है, जिस पर कुछ पात्र रखे हुए हैं। पीछे की ओर खिड़की है। बाँया दरवाजा अन्दर जाने के लिये है और दाँया बाहर से आने के लिए। दीवारों में कई आले या ताख है, जिनमें दीपदान या कुछ और वस्तुएं रखी हैं। शेखर कुछ गुनगुनाते हुए टहलता है, या कभी तख्त पर बैठ जाता है। जान पड़ता है, वह संलग्न है। तल्लीन मुद्रा। जो कुछ वह कहता है, उसे लिखता भी जाता है।)

अंगुलियां आतुर तुरत पसार,

खींचते नीले पट का छोर (दुबारा कहता है, फिर लिखता है)

टँगा जिसमें जाने किस ओर

स्वर्णकण······स्वर्ण-कण······

(पूरा करने के प्रयास में तल्लीन है। इतने में बाहर से माधव का प्रवेश। सांसारिक अनुभव और जानकारी उसके चेहरे से प्रकट है। द्वार के पास खड़ा होकर वह थोड़ी देर तक कवि की लीला देखता रहता है। उसके बाद।)

माधव—शेखर !

शेखर—(अभी सुना ही नहीं। एक पंक्ति लिखकर) 'स्वर्ण-कर्ण प्रिय को रहा निहार।'

माधव—शेखर।

शेखर—(चौंककर) कौन ! ओह ! माधव ! (उठकर माधव की ओर बढ़ता है।)

माधव—क्या कर रहे हो शेखर ?

शेखर—यहां आओ माधव, यहाँ। (उसके कन्धों को पकड़कर तख्त पर बिठाता हुआ) यहाँ बैठो। (स्वयं खड़ा है) माधव तुमने भोर का तारा देखा कभी।

माधव—(मुस्कराते हुए) हाँ। क्यों !

शेखर—(बड़ी गम्भीरतापूर्वक) कैसा अकेला, एकटक देखता रहता है ? जानते हो ?······नहीं जानते। (तख्त के दूसरे भाग पर बैठता हुआ) बात यह है कि एक बार रजनीबाला अपने प्रियतम प्रभात से मिलने चली, गहरे नीले कपड़े पहनकर जिसमें सोने के तारे टँके थे। ज्यों ही निकट पहुँची त्यों ही लाज की आँधी आई और बेचारी रजनी को उड़ा ले चली। (रुककर) फिर क्या हुआ ?

माधव—(कुछ उद्योग के बाद) प्रभात अकेला रह गया।

शेखर—नहीं, उसने अपनी अंगुलियाँ पसारकर उसके नीले पट का छोर खींच लिया। जानते हो, यह भोर का तारा है न ? उसी छोर में टँका हुआ सोने का कण है ? एकटक प्रियतम प्रभात को निहार रहा है।······क्यों ?

माधव—बहुत ऊंची कल्पना है। लिख चुके क्या ?

शेखर—अभी तो और लिखूंगा। बैठा ही था कि तुम आ गये—

माधव—(हंसते हुए) और तब तुम्हें ध्यान हुआ कि तुम धरती पर ही बैठे थे, आकाश में नहीं। (रुककर) मुझे कोस तो नहीं रहे हो शेखर ?

शेखर—(भोलेपन से) क्यों ?

माधव—तुम्हारी परियों और तारों की दुनिया में मैं मनुष्यों की दुनिया लेकर आ गया।

शेखर—(सच्चेपन से) कभी-कभी तो तुममें भी कविता दीख पड़ती है ?

माधव—मुझमें ?......(ज़ोर से हंसकर) तुम अठखेलियाँ करना भी जानते हो ?......(गम्भीर होते हुए) शेखर कविता तो कोमल हृदयों की चीज़ है। मुझ-जैसे काम-काजी राजनीतिज्ञों और सैनिकों के तो छूने-भर से मुरझा जाएगी। हम लोगों के लिए तो दुनिया की और ही उलझनें बहुत हैं।

शेखर—माधव, तुमने कभी यह भी सोचा है कि इन उलझनों से बाहर निकलने का मार्ग भी हो सकता है ?

माधव—और हम लोग करते ही क्या हैं ? रात-दिन मनुष्यों की उलझनें सुलझाने का ही तो उद्योग करते रहते हैं।

शेखर—यही तो नहीं करते। तुम राजनीतिज्ञ और मन्त्री लोग बड़ी संजीदगी के साथ अमीरी-गरीबी, युद्ध और सन्धि की समस्याओं को हल करने का अभिनय करते हो, परन्तु मनुष्य को इन उलझनों के बाहर कभी नहीं लाते। कवि इसका प्रयत्न करते हैं, पर तुम उन्हें पागल......

माधव—कवि ?...... (अवहेलनापूर्वक) तुम उलझनों से बाहर निकालने का प्रयास नहीं करते, तुम उन्हें भूलने का प्रयास

करते हो ? तुम सपना देखते हो कि जीवन सौंदर्य है, हम जागते रहते हैं और देखते हैं कि जीवन कर्त्तव्य है ।

शेखर—(भावुकता से) मुझे तो सौंदर्य ही कर्त्तव्य जान पड़ता है । मुझे तो जहाँ सौंदर्य दीख पड़ता है, वहाँ कविता दीख पड़ती है, वहीं जीवन दीख पड़ता है । (स्वर बदलकर) माधव, तुमने सम्राट् के भवन के पास राजपथ के किनारे उस अंधी भिखमंगी को कभी देखा ?

माधव—(मुस्कराहट रोकते हुए) हाँ ।

शेखर—मैं उसे सदा भीख देता हूँ । जानते हो क्यों ?

माधव—क्यों ? (कुछ सोचने के बाद) दया सज्जन का भूषण है ।

शेखर—दया ! हुँ ! (ठहरकर) मैं तो उसे इसलिए भीख देता हूँ क्योंकि मुझे उसमें एक कविता, एक लय, एक कला झलक पड़ती है । उसका गहरा झुर्रियोंदार चेहरा, उसके कांपते हुए हाथ, उसकी आँखों के बेबस गड्ढे (एक तरफ एकटक देखते हुए, मानो इस मानसिक चित्र में खो गया हो ।) उसकी झुकी हुई कमर······माधव मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि मानो किसी शिल्पी ने उसे इस ढाँचे में ढाला हो ।

माधव—(इस भाषण से उसका अच्छा खासा मनोरंजन हो गया जान पड़ता है । खड़े होकर शेखर पर शरारत भरी आंखें गड़ाते हुए) शेखर टाट में रेशम का पैबन्द क्यों लगाते हो ? ऐसी कविता तो तुम्हें किसी देवी की प्रशंसा में करनी चाहिये थी ।

शेखर—(सरल भाव से) किस देवी की ?

माधव—यह तो उसके पुजारी से पूछो । (अर्थ-पूर्ण स्वर में)

शेखर—मैं तो नहीं जानता किसी पुजारी को ।

माधव—अपने को आज तक किसी ने जाना है, शेखर ? (हंस पड़ता है, शेखर कुछ समझकर झेंपता-सा है)......पागल ! (गंभीर होकर बैठते हुए) शेखर, सच बताओ, तुम छाया को प्यार करते हो ?

शेखर—कितनी बार पूछोगे ? (मंद गहरे स्वर में)......

माधव—बहुत प्यार करते हो ?

शेखर— माधव, जीवन में मेरी दो ही तो साधनाएं हैं (तख्त से उठकर खिड़की की ओर बढ़ता हुआ) छाया का प्यार और कविता। (खिड़की के सहारे दर्शकों की ओर मुंह करके खड़ा हो जाता है।)

माधव—और छाया ?

शेखर—हम दोनों नदी के दो किनारे हैं, जो एक-दूसरे की ओर मुड़ते हैं, पर मिल नहीं पाते।

माधव—(उठकर शेखर के कन्धे पर हाथ रखते हुए) सुनो शेखर, नदी सूख भी तो सकती है।

शेखर—नहीं माधव, उसके भाई देवदत्त से किसी तरह की आशा करना व्यर्थ है। मेरे लिए तो उनका हृदय सूखा हुआ है।

माधव—क्यों ?

शेखर—तुम पूछते हो क्यों ? तुम भी तो सम्राट् स्कन्दगुप्त के दरबारी हो। देवदत्त एक मन्त्री है। भला, एक मन्त्री की बहन का एक मामूली कवि से क्या सम्बन्ध ?

माधव— मामूली कवि ! शेखर तुम अपने को मामूली कवि समझते हो ?

शेखर—और क्या समझूं ? राजकवि ?

माधव—सुनो शेखर, तुम्हें एक खबर सुनाता हूं।

शेखर—खबर ?

माधव—हां, मैं कल रात को राजभवन गया था।

शेखर—इसमें तो कोई नई बात नहीं। तुम्हारा तो काम ही यह है।

माधव—नहीं, कल एक उत्सव था। स्वयं सम्राट् ने कुछ लोगों को बुलाया था। गाने हुए, नाच हुए, दावत हुई। एक युवती ने बहुत सुन्दर गीत सुनाया। सम्राट् तो उस गीत पर रीझ गये।

शेखर—(उकताकर) आखिर तुम यह सब मुझे क्यों सुना रहे हो, माधव ?

माधव—इसलिए कि सम्राट् ने उस गीत के बनाने वाले का नाम पूछा। पता चला कि उसका नाम था शेखर।

शेखर—(चौंककर) क्या ?

माधव—अभी और तो सुनो। उस युवती ने सम्राट् से कहा कि अगर आपको यह गाना पसन्द है, तो इसके लिखने वाले कवि को अपने दरबार में बुलाइये। अब कल से वह कवि महाराजाधिराज सम्राट् स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में जाएगा।

शेखर—मैं ?

माधव—(अभिनय-सा करते हुए, झुककर) श्रीमान्, क्या आप ही का नाम शेखर है ?

शेखर—मैं जाऊंगा सम्राट् के दरबार में ? माधव, सपना तो नहीं देख रहे हो ?

माधव—सपने तो तुम देखा करते हो। लेकिन अभी मेरा समाचार पूरा कहाँ हुआ है ?

शेखर—हां, वह युवती कौन है ?

माधव—अब यह भी बताना होगा ? तुम भी बुद्धू हो। क्या इसी बूते पर प्रेम करने चले थे।

शेखर—ओह ! छाया !······(माधव का हाथ पकड़ते हुए)······ तुम कितने अच्छे हो !

माधव—और सुनो ! सम्राट् ने देवदत्त को आज्ञा दी है कि वह तक्षशिला जाकर वहां के क्षत्रप वीरभद्र को दबाएँ। आर्य देवदत्त के साथ मैं भी जाऊँगा, उनका मन्त्री बनकर। समझे ?

शेखर—(स्वप्न-से में) तो क्या सच ही छाया ने कहा ? सच ही ?

माधव—शेखर, आठ दिन बाद आर्य देवदत्त और मैं तक्षशिला चल देंगे ! उसके बाद······उसके बाद छाया यहाँ रहेगी ? भला, बताओ तो ?

शेखर—माधव !······(माधव हँस पड़ता है) इतना भाग्य ? इतना ······विश्वास नहीं होता।

माधव—न करो विश्वास !······लेकिन भलेमानस, छाया क्या इस कूड़े में रहेगी ? यह बिखरे हुए कागज, टूटी चटाई, फटे हुए वस्त्र। शेखर लापरवाही की भी सीमा होती है !

शेखर—मैं कोई इन बातों की परवाह करता हूँ !

माधव—और फिर ?

शेखर—मैं परवाह करता हूँ फूल की पंखुड़ियों पर जगमगाती हुई ओस की, (भावोद्रेक से) संध्या में सूर्य की किरणों को अपनी गोद में सिमेटने वाले बादल के टुकड़ों की, सुबह को आकाश के कोने में टिमटिमाने वाले तारे की।

माधव—एक चीज रह गई !

शेखर—क्या ?

माधव—जिसे तुम वृक्षों के नीचे दिन में फैली देखते हो। (उठकर दूर खड़ा हो जाता है।)

शेखर—वृक्षों के नीचे ?

माधव—जिसे तुम दर्पण में झलकती देखते हो।

शेखर—दर्पण में ?

माधव—जिसे तुम अपने हृदय में हमेशा देखते हो। (निकट आ गया है)

शेखर—(समझकर बच्चों की तरह) छाया !

माधव—(मुस्कराते हुए) छाया !

(पर्दा गिरता है।)

: २ :

(उज्जयिनी में आर्य देवदत्त का भवन, जिसमें अब शेखर और छाया रहते हैं। कमरा सजा हुआ और साफ है। दीवारों पर कुछ चित्र खिंचे हुए हैं। कोने में धूपदान भी है। सामने तख्त पर चटाई और लिखने-पढ़ने का सामान है। बराबर में एक छोटी चौकी पर कुछ ग्रन्थ रखे हुए हैं। दूसरी ओर एक पीढ़ा है, जिसके निकट मिट्टी की किन्तु कलापूर्ण, एक अंगीठी रखी हुई है। दीवार के एक भाग पर एक अलगनी है, जिस पर कुछ धोतियां इत्यादि टंगी हैं।)

छाया, सौंदर्य की प्रतिमा, चांचल्य, उन्माद और गाम्भीर्य का जिसमें स्त्री-सुलभ सम्मिश्रण है, गृह-स्वामिनी होने के नाते कमरे की सब वस्तुएँ ठीक-ठीक स्थान पर सम्हालकर रख रही है। साथ ही कुछ गुनगुनाती भी जाती है। जाड़ा होने के कारण तापने के लिये उसने अंगीठी में अग्नि प्रज्वलित कर दी है। कुछ देर बाद पीढ़े पर बैठकर वह अंगीठी को ठीक

करती है। उसकी पीठ द्वार की ओर है। अपने कार्य और गान में इतनी संलग्न है कि उसे बाहर पैरों की आवाज नहीं सुनाई देती।)

गीत

प्यार की है क्या यह पहचान ?

चाँदनी का पाकर नव स्पर्श, चमक उठते पत्ते नादान,
पवन को परस सलिल की लहर, नृत्य में हो जाती लयमान,
सूर्य का सुन कोमल पदचाप, फूट उठता चिड़ियों का गान,
तुम्हारी तो प्रिय केवल याद, जगाती मेरे सोये प्राण।

प्यार की है क्या यह पहचान ?

(धीरे से शेखर का प्रवेश। कन्धे और कमर पर ऊनी दुशाला है, बगल में फूलों की माला है। द्वार पर चुपचाप खड़ा होकर मुस्कराते हुए छाया का गीत सुनता है।)

शेखर—(थोड़ी देर बाद, धीरे से) छाया! (छाया नहीं सुन पाती है, गाना जारी है। फिर कुछ समय बाद) छाया!

छाया—(चौंककर खड़ी हो जाती है। मुख फेरकर) ओह!

शेखर—(तख्त की ओर बढ़ता हुआ) छाया तुम्हें एक कहानी मालूम है?

छाया—(उत्सुकतापूर्वक) कौन-सी ?

शेखर—(छोटी चौकी पर पहले तो अपनी बगल का ग्रन्थ रखता है, और फिर उस पर दुशाला रखते हुए) एक बात सुन्दर-सी।

छाया—सुनें, कैसी कहानी है ?

शेखर—(बैठकर) एक राजा के यहां एक कवि रहता था, युवक और भावुक। राजाभवन में सब लोग उसे प्यार करते थे। राजा

तो उस पर निछावर था। रोज सुबह राजा उसके मुँह से नई कविता सुनता था। नई और सुन्दर कविता।

छाया—हूँ ? (पीढ़ी पर बैठ जाती है, चिबुक को हथेली पर टेकती है।)

शेखर—परन्तु उसमें एक बुराई थी।

छाया—क्या ?

शेखर—वह अपनी कविता केवल सुबह के समय सुनाता था। यदि राजा उसे पूछता कि तुम दोपहर या संध्या को अपनी कविता क्यों नहीं सुनाते, तो वह उत्तर देता—मैं केवल रात के समय तीसरे पहर में कविता लिख सकता हूँ।

छाया—राजा उससे रुष्ट नहीं हुआ ?

शेखर—नहीं, उसने सोचा कि कवि के घर चलकर देखा जाए कि इसमें रहस्य क्या है ? रात का तीसरा पहर होते ही राजा वेश बदलकर कवि के घर के पास खिड़की के नीचे बैठ गया।

छाया—उसके बाद ?

शेखर— उसके बाद राजा ने देखा कि कवि लेखनी लेकर तैयार बैठ गया। थोड़ी देर में कहीं से मधुर, बहुत सुरीला स्वर राजा के कान में पड़ा। राजा झूमने लगा और कवि की लेखनी आप-से-आप चलने लगी।

छाया—फिर क्या ?

शेखर—फिर क्या ? राजा महल को लौट आया और उसके बाद उसने कवि से कभी यह प्रश्न नहीं पूछा कि वह सुबह ही क्यों कविता सुनाता था। भला, बताओ तो क्यों नहीं पूछा ?

छाया—बताऊँ ?

शेखर—हाँ !

छाया—राजा को यह मालूम हो गया कि उस गायिका के स्वर में ही कवि की कविता थी। और बताऊँ ? (खड़ी हो जाती है।)

शेखर—(मुस्कराते हुए) छाया, तुम—

छाया—(टोककर, शीघ्रता और चंचलता के साथ) वह गायिका और कोई नहीं, उस कवि की पत्नी थी। और बताऊँ ? उस कवि को कहानी सुनाने का बहुत शौक था, झूठी कहानी। और बताऊँ ? उस कवि के बाल लम्बे थे, कपड़े ढीले-ढाले, गले में उसके फूलों की माला थी, माथे पर—(इस बीच में शेखर की मुस्कराहट हलकी हँसी में परिणत हो गई है, यहाँ तक कि इन शब्दों तक पहुँचते-पहुँचते दोनों जोर से हँस पड़ते हैं।)

शेखर—(थोड़ी देर बाद गम्भीर होते हुए) लेकिन छाया, तुम्हीं बताओ तुम्हारा गान, तुम्हारी प्रेरणा, तुम्हारे प्रेम के बिना मेरी कविता क्या होती ? तुम तो मेरी कविता हो !

छाया—(बड़े गंभीर उलाहने-भरे स्वर में) प्रत्येक पुरुष के लिए स्त्री एक कविता है।

शेखर—क्या मतलब तुम्हारा ?

छाया—कविता तुम्हारे सूने दिलों में संगीत भरती है। स्त्री भी तुम्हारे ऊबे हुए मन को बहलाती है। पुरुष जब जीवन की सूनी चट्टानों पर चढ़ता-चढ़ता थक जाता है, तब सोचता है—चलो, थोड़ा मन-बहलाव कर लें। स्त्री पर अपना सारा प्यार, अपने सारे अरमान निछावर कर देता है, मानो दुनिया में और कुछ हो ही न। और उसके बाद जब चाँदनी बीत जाती है, जब कविता नीरव हो जाती है, तब पुरुष को चट्टानें फिर बुलाती हैं, और

वह ऐसे भागता है मानो पिंजरे से छूटा हुआ पंछी। और स्त्री ? स्त्री के लिए वही अँधेरा, फिर वही सूनापन।

शेखर—(मन्द स्वर में) छाया, तुम मेरे साथ अन्याय कर रही हो,

छाया—क्या एक दिन तुम मुझे भी ऐसे छोड़कर न चले जाओगे ?

शेखर—लेकिन छाया, मैं तुम्हें छोड़कर कहाँ जा सकता हूँ ?

छाया—उहूँ, मैं नहीं मान सकती।

शेखर—सुनो तो, मेरे लिए तो जीवन में ऐसी सूखी चट्टानें थोड़े ही हैं। मेरी कविता ही मेरी हरी-भरी वाटिका है। मैं उसे प्यार करता हूँ, क्योंकि मुझे उसमें सौंदर्य दीखता है। जिस दिन मैं तुमसे दूर जाऊँगा, उस दिन मैं सौंदर्य से दूर हो जाऊँगा। (कुछ रुककर) मेरी कविता मर जायगी।

छाया—नहीं शेखर, मैं मर जाऊँगी किन्तु तुम्हारी कविता रहेगी, बहुत दिन रहेगी।

शेखर—मेरी कविता ! (कुछ देर बाद)......छाया आज मैं तुम्हें एक बड़ी विशेष बात बताने वाला हूँ, एक ऐसा भेद जो अब तक मैंने तुमसे भी छिपा रखा था।

छाया—रहने दो, तुम ऐसे भेद और ऐसी कहानियाँ सुनाया ही करते हो।

शेखर—नहीं !......अच्छा, तनिक उस दुशाले को उठाओ। (छाया उठाती है।) उसके नीचे कुछ है। (छाया उस ग्रन्थ को हाथ में लेती है।) उसे खोलो......क्या है ?

छाया—(आश्चर्यान्वित होकर) ओह ! (ज्यों-ज्यों छाया उसके पन्ने उलटती जाती है, शेखर की प्रसन्नता बढ़ती जाती है।) 'भोर का तारा'। उपफोह ! यह तुमने कब लिखा ? मुझसे छिपकर ?

शेखर—(हँसते हुए, विजय का-सा भाव।) छाया, तुम्हें याद है उस दिन की, जब माधव के साथ मैं तुम्हारे भाई देवदत्त से मिलने इसी भवन में आया था ?

छाया—(शेखर की ओर थोड़ी देर देखकर) उस दिन को कैसे भूल सकती हूँ शेखर ? उसी दिन तो भैया को तक्षशिला जाने की आज्ञा मिली थी, उसी दिन तो हम और तुम……(रुक जाती है।)

शेखर—हाँ छाया, उसी दिन मैंने इस महाकाव्य को लिखना आरम्भ किया था। (गहरे स्वर में) आज वह समाप्त हो गया।

छाया—शेखर यह हमारे प्रेम की अमर स्मृति है।

शेखर—उसे यहाँ लाओ। (हाथ में लेकर, चाव से खोलता हुआ) 'भोर का तारा' छाया ! यह काव्य बड़ी लगन का फल है। कल मैं इसे सम्राट् की सेवा में ले जाऊँगा और फिर जब मैं उस सभा में इसे सुनाना आरम्भ करूँगा, उस समय सम्राट् गद्-गद् हो जायेंगे, और मैं कवियों का सिरमौर हो जाऊँगा। छाया बरसों बाद दुनिया पढ़ेगी, कविकुल-शिरोमणि शेखर कृत 'भोर का तारा'— हा हा हा ! (विभोर)

(छाया उसकी ओर एकटक देख रही है। सहसा उसके चेहरे पर चिन्ता की रेखा खिंच जाती है। शेखर हँस रहा है)

छाया—शेखर ! (वह हँसे जा रहा है।) शेखर ! (हँसे जा रहा है) शेखर ! (शेखर की दृष्टि उस पर पड़ती है)

शेखर—(सहसा चुप होकर) क्यों छाया ? क्या हुआ तुमको ?

शेखर—(चिन्तित स्वर में) शेखर ! (चुप हो जाती है।)

शेखर—कहो।

छाया—तुम इसे सम्हालकर रखोगे ?

शेखर—बस इतनी ही बात ?

छाया—शेखर, मुझे डर लगता है कि······कि······कहीं यह नष्ट न हो जाय, कोई उसे चुरा न ले जाय, और फिर तुम।

शेखर—हा हा हा ! पगली, ऐसा क्यों होने लगा ! सोचने से ही डर गई ! छाया, छाया, तुम्हारे लिए तो आज प्रसन्न होने का दिन है, बहुत प्रसन्न ! इधर देखो छाया, हम लोग कितने सुखी हैं ? और तुम ? जानती हो, तुम कौन हो ? तुम तो तक्षशिला के क्षत्रप देवदत्त की बड़ी बहन और उज्जयिनी के सबसे बड़े कवि शेखर की पत्नी !······तक्षशिला का क्षत्रप और उज्जयिनी का कवि हँ हँ हँ !······क्यों छाया ?

छाया—(मन्द स्वर में) तुम सच कहते हो, शेखर हम बहुत सुखी हैं।

शेखर—(मग्नावस्था में) बहुत सुखी ?

(सहसा बाहर कोलाहल। घोड़े के टापों की आवाज़। शेखर और छाया छिटककर चैतन्य खड़े हो जाते हैं। शेखर द्वार की ओर बढ़ता है।)

शेखर—कौन है ?

(सहसा माधव का प्रवेश। थकित और श्रमित, शस्त्रों से सुसज्जित, पसीने से नहा रहा है। चहरे पर भय और चिन्ता के चिह्न हैं।)

शेखर और छाया—माधव !

शेखर—माधव, तुम यहाँ कहाँ ?

माधव—(दोनों पर दृष्टि फेंकता हुआ) शेखर, छाया, (फिर उस कमरे पर डरती-सी आंखें डालता है, मानो उस सुरम्य घोंसले को नष्ट करने से भय खाता हो। कुछ देर बाद बड़े

प्रयत्न और कष्ट के साथ बोलता है।) मैं तुम दोनों से भी भीख माँगने आया हूँ।

(छाया और शेखर के आश्चर्य का ठिकाना नहीं है।)

छाया—भीख माँगने ? तक्षशिला से ?

शेखर—तक्षशिला से ? माधव, क्या बात है ?

माधव—(धीरे-धीरे मजबूती के साथ बोलना आरंभ करता है, परन्तु ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों स्वर में भावुकता आती जाती है।) हाँ, मैं तक्षशिला से ही आ रहा हूँ। यहाँ तक कैसे बीते, यह भी नहीं जानता। हाँ, यह जानता हूँ कि आज गुप्त साम्राज्य संकट में है और हमें घर-घर भीख माँगनी पड़ेगी।

शेखर—गुप्त साम्राज्य संकट में है, क्या कह रहे हो माधव !

माधव—(संजीदगी के साथ) शेखर पश्चिमोत्तर सीमा पर आग लग चुकी है। हूणों का सरदार तोरमाण भारतवर्ष पर चढ़ आया है।

छाया—(भयाक्रान्त होकर) तोरमाण ?

माधव—उसने सिन्ध नदी को पार कर लिया है, उसने अम्भी राज्य को नष्ट कर दिया है, उसकी सेना तक्षशिला को पैरों तले रौंद रही है।

छाया—(सहसा माधव के निकट जाकर, भय से कातर हो उसकी भुजा पकड़ती हुई।) तक्षशिला ?

माधव—(उसी स्वर में) सारा पंचनद आज उसके भय से काँप रहा है। एक-के-बाद-एक गाँव जल रहे हैं। हत्याएँ हो रही हैं। अत्याचार हो रहे हैं। शीघ्र ही सारा आर्यावर्त पीड़ितों की

हाहाकार से गजने लगेगा। शेखर, छाया, मैं तुम से माँगता हूँ, नई भीख मांगता हूँ—सम्राट् स्कन्दगुप्त की, साम्राज्य की, देश की इस संकट में मदद करो। (**बाहर भारी कोलाहल। शेखर और छाया जड़वत् खड़े हैं।**) देखो बाहर जनता उमड़ रही है। शेखर तुम्हारी वाणी में ओज है, तुम्हारे स्वर में प्रभात। तुम अपने शब्दों के बल पर सोई हुई आत्माओं को जगा सकते हो, युवकों में जान फूंक सकते हो। (**शेखर सुने जा रहा है। चेहरे पर भावों का आवेग। मस्तक पर हाथ रखता है।**) आज साम्राज्य को सैनिकों की आवश्यकता है। शेखर, अपनी ओजमयी कविता के द्वारा तुम गाँव-गाँव में जाकर वह आग फैला दो जिससे हज़ारों और लाखों भुजाएँ अपने सम्राट् और अपने देश की रक्षा के लिए शस्त्र हाथ में ले लें। (**कुछ रुककर शेखर के चेहरे की ओर देखता है। उसकी मुद्रा बदल रही है—जैसे कोई भीषण उद्योग कर रहा हो।**) कवि, देश तुमसे यह बलिदान माँगता है।

छाया—(**अत्यन्त दर्द भरे करुण स्वर में**) माधव! माधव!

माधव—(**मुड़कर छाया की ओर कुछ देर देखता है फिर थोड़ी देर बाद**) छाया, उन्होंने कहा था—मेरे प्राण क्या चीज़ हैं, इस में तो सहस्रों मिट गये और सहस्रों को मिटना है।

शेखर—(**मानो नींद से जगा हो**) किसने?

माधव—आर्य देवदत्त ने, अन्तिम समय।

छाया—(**जैसे बिजली गिरी हो**) माधव, तो क्या भैया।

माधव—उन्होंने वीरगति पाई है, छाया! (**छाया पृथ्वी पर गिर जाती है। चेहरे को हाथों से ढक लिया है। इस बीच में माधव कहे जाता है, शेखर एक-दो बार घूमता है। उसके मुख

से प्रकट होता है मानो डूबते को सहारा मिलने वाला है।) तक्षशिला से चालीस मील दूर विद्रोही वीरभद्र की खोज में वह हूणों के दल के निकट जा पहुँचे। वहाँ उनको ज्ञात हुआ कि वीरभद्र हूणों से मिल गया है। उनके बीस सैनिक आगे हूणों में फँसे हुए थे। वे तक्षशिला लौट सकते थे और अपने प्राण बचा सकते थे। परन्तु एक सच्चे सेनापति की भांति उन्होंने अपने सैनिकों के लिए प्राण संकट में डाल दिये और मुझे तक्षशिला और पाटलिपुत्र को चेतावनी देने के लिए भेजा। मैं आज—

(सहसा रुक जाता है, क्योंकि उसकी दृष्टि शेखर पर जा पड़ती है। शेखर चौकी के पास खड़ा है, उसके चेहरे पर दृढ़ता और विजय का भाव है। बाहर कोलाहल कम है। शेखर अपना हाथ बढ़ाकर अपने ग्रन्थ 'भोर का तारा' को उठाता है। इसी समय माधव की दृष्टि उस पर पड़ती है। शेखर पुस्तक को कुछ देर चाव से, बिछुड़न से, प्रेम से देखता है। उसके बाद आगे बढ़कर अँगीठी के निकट जाकर उसमें जलती हुई अग्नि को देखता है और धीरे-धीरे उस पुस्तक को फाड़ता है। इस आवाज़ को सुनकर छाया अपना मुख ऊपर करती है।)

छाया—(उसे फाड़ते देखकर) शेखर!

(लेकिन शेखर ने उसे अग्नि में डाल दिया। लपटें उठती है। छाया फिर नीचे गिर पड़ती है। शेखर लपटों की तरफ देखता है। फिर छाया की ओर दृष्टिपात करता है, एक सूखी हँसी के बाद बाहर चल देता है। कोलाहल कम होने के कारण उसके पैरों की आवाज थोड़ी देर तक सुनाई देती है। माधव द्वार की ओर बढ़ता है।)

(अत्यन्त पीड़ित स्वर में) माधव, तुमने तो मेरा प्रभात नष्ट कर दिया। (माधव उसके यह शब्द सुनकर बाहर जाता-जाता रुक जाता है। मुड़कर छाया की ओर देखता है और पीछे की ओर देखता है, फिर पीछे की खिड़की के निकट जाकर उसे खोल देता है। इससे बाहर का कोलाहल स्पष्ट सुनाई देता है शेखर और उसके साथ पूरे जन-समूह के आने का स्वर सुन पड़ता है।)

नक्कारे पर डंका बजा है तू शस्त्रों को अपने सँभाल।
बुलाती है वीरों की मही, तू उठ कोई रस्ता निकाल॥

(शेखर का स्वर तीव्र है। माधव खिड़की को बन्द कर देता है। पुनः शान्ति। इसके बाद मन्द परन्तु दृढ़ स्वर में बोलता है।)—

माधव—छाया, मैंने तुम्हारे प्रभात नष्ट नहीं किया! प्रभात तो अब तक भोर का तारा था, अब वह प्रभात का सूर्य होगा।

(छाया धीरे-धीरे अपना मस्तक उठाती है)

[पर्दा गिरता है]

———

57

समस्या का अन्त

उदयशंकर भट्ट

परिचय—

उदयशंकर भट्ट

भट्टजी का पाण्डित्य-पूर्ण व्यक्तित्व उनके नाटकों में साफ तौर पर झलकता है। इसके साथ-साथ ही आपके गहन अध्ययन ने तीव्र अनुभूति का सहयोग पाकर एक उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि भी की है—जिसमें आदर्श और यथार्थ के बीच एक पतली सी रेखा बन जाती है। आपके एकाँकी इसी संतुलन पर खड़े हैं। स्वयं उनके ही शब्दों में—"नाटक केवल मनोरंजन ही नहीं है, वह उनके साथ-साथ वास्तविक जीवन-दर्शन भी है।" जीवन की कटुता को वे कल्पना की मिठास में भिगोकर इन दोनों लक्ष्यों को निभाने में सफल हुए हैं।

आपकी भाषा यद्यपि संस्कृत के तत्सम शब्दों से अलंकृत है, फिर भी संवादों में स्वाभाविकता कम नहीं हुई है। नाटक की गति में कहीं पर भी अटकाव दीख नहीं पड़ता। नाटकीय तत्वों का परिपालन आपने हृदयग्राही रूप से किया है।

प्रस्तुत एकांकी दो प्राचीन गणराज्यों का एक मार्मिक चित्र है; जिनका वैर और वैमनस्य 'माणविका' के अपूर्व बलिदान से सदा के लिए धुल जाता है।

आपका जन्म बुलन्दशहर जिले में संवत् १९५४ को हुआ। और आजकल आप 'आकाशवाणी' के हिन्दी-विभाग में काम कर रहे हैं।

नाटक के पात्र

माणविका—वामरथ गण की कन्या

श्रुतबुद्धि—मद्रगण का सेना नायक

शबर—माणविका का पिता

दर्भक—माणविका का भाई

मधुमती, आनन्दक, दीर्घक, सागरिकाल आदि।

समस्या का अन्त

प्रथम दृश्य

[रात्रि का समय। आकाश में कभी-कभी चाँद मुस्करा उठता है, शेष समय बादल के टुकड़े उठ-उठकर चन्द्रमा को घेर लेते हैं, मानो प्रसन्नता के अन्दर कभी-कभी विषाद की रेखा खिंच जाती हो। एक नवयुवती—जिसमें सत्रह-अठारह वर्षों ने अपनी संचित शक्ति भर डाली है। उठान के साथ सौन्दर्य, सौन्दर्य के साथ बल, बल के साथ गठन, गठन के साथ दृढ़ता, आत्म-विश्वास, गर्व और अभिलाषा के कुछ स्फुलिंग, गौरवर्ण, जटाजूट वेणी जिनसे ललाट और भी विशाल दिखाई देता है। वेणी-जटा में चारों ओर मालती के पुष्प हैं। आयताक्ष, तीखी नाक, स्तनांशुक तथा कौषेय शाटिका। सुदृढ़ शरीर, साथ में सिंह-शावक, जो श्रृंखला से बंधा है। स्थान नदी का तट, सिंह-शावक पानी पी रहा है। युवती, जिसका नाम माणविका है, नदी की धार की ओर ध्यान से देख रही है। कभी 'अरे पी चुका' कहकर सिंह-शावक को झटका देती है। फिर ध्यान से नदी की धार की ओर देखने लगती है। ऐसा दीख पड़ता है मानो दूर से कोई व्यक्ति नदी की धार को चीरता हुआ चला आ रहा है। माणविका देखकर कहती है—]

कौन आ रहा है? इस भयंकर तूफान में नदी को चीरता हुआ वह कौन आ रहा है? अरे, क्या वही है?

(व्यक्ति पास आ जाता है। सिंह एक बार फिर गरजता है। व्यक्ति के फूले हुए साँसों की आवाज बढ़ती है।)

माणविका—(पास से) तुम, तुम आ गए ? इतनी बढ़ी हुई नदी को, अँधेरी रात में पार करके आज तुम फिर आ गए श्रुतबुद्धि ?

श्रुतबुद्धि—हाँ, माणविका ! मैं आ गया, यह तो नदी है, तुम्हारे लिए मैं समुद्र पार कर सकता हूँ। आकाश के तारे तोड़कर ला सकता हूँ।

माणविका—श्रुतबुद्धि ! जानते हो तुम्हारे इस साहसपूर्ण कार्य का क्या अर्थ होगा ?

श्रुतबुद्धि—मेरा नाश ?

माणविका—तुम्हारा ही नहीं, मेरा भी। तुम्हारे यहाँ आने के कारण सहस्रों वामरथों मद्रकों का नाश हो जायगा। मेरे गण के लोग यह नहीं चाहते कि एक भी वामरथ मद्रकों से मिले।

श्रुतबुद्धि—(नदी पार करने की थकावट से साँस अभी तक फूल रही है) मैं जानता हूँ माणविका, मैं तुमसे मिलने आकर आग से खेल रहा हूँ। मृत्यु को हथेली पर रखकर ही मैं यहाँ आता हू माणविका !

माणविका—किन्तु तुम्हारे घाव तो अभी तक भरे नहीं हैं। नदी में प्रतिदिन इस प्रकार संतरण करने से क्या वे फट न जाएँगे ? उनमें विपाक न पड़ जायगा ?

श्रुतबुद्धि—नहीं, अब वे कुछ-कुछ ठीक हैं। उनसे बढ़कर मेरे हृदय में एक घाव हो गया है माणविका !

माणविका—हैं ? हृदय में घाव ? किसी वैद्य को दिखाओ। (सिंह गरजता है।) अरे, तुझे क्या हो गया ? तू किधर भाग रहा है ? ठहर जा। श्रुतबुद्धि ! तुम्हारी भेंट यह सिंह भी मेरे काडनक से कम नहीं है। दो-एक दिन तो इसने मुझे व्यर्थ ही दौड़ाया। किन्तु अब यह मेरा आज्ञाकारी हो गया है। देखो, तनिक इसके

सिर पर हाथ फेरो, कितना सुन्दर है ! यह तुम्हारे हृदय में घाव कैसे हो गया, भला ? किसी और सिंह से युद्ध किया था क्या ?

श्रुतबुद्धि—नहीं, एक सिंहनी से युद्ध करना पड़ा।

माणविका—(भोलेपन से) सिंहनी से ? सिंह की अपेक्षा सिंहनी से युद्ध करना कठिन है। किस स्थान पर तुमने युद्ध किया था ? यहाँ वामरथों के वन में अथवा मद्रक वन में ?

श्रुतबुद्धि—वामरथ वन में ?

माणविका—वामरथ वन में ? कहाँ ?

श्रुतबुद्धि—लम्बी कथा है माणविका, तुम न समझ सकोगी।

माणविका—यदि तुम समझाओगे तो क्यों न समझ सकूँगी। यह हृदय में घाव कैसे हो गया है ? तुम्हें मालूम है मेरे परिवार को संदेह हो गया है। पहले मैं क्षेत्र-रक्षा के लिए रात्रि भर नहीं रहती थी, अब मैंने तुमसे मिलने के लिए रात्रि भर क्षेत्र-रक्षा का भार लिया है। इसी से मेरी माता को सन्देह हो गया है श्रुतबुद्धि !

श्रुतबुद्धि—फिर ?

माणविका—हम लोग दो-एक दिन में गान्धार जाने वाले हैं। मेरी माता गान्धार देश की है न। गान्धार में मेरी माता को दो बड़े अन्न-क्षेत्र मिले हैं, इसीलिए।

श्रुतबुद्धि—मुझे वामरथों से कोई डर नहीं है माणविका ! जीवन दो बार नहीं मिलता, प्रेम दो व्यक्तियों से नहीं किया जाता। क्या तुम मुझे छोड़कर चली जाओगी माणविका ?

माणविका—जाना ही होगा श्रुतबुद्धि ! तुमने हृदय के घाव के सम्बन्ध में नहीं बताया।

श्रुतबुद्धि—व्यर्थ है।

माणविका—व्यर्थ क्यों है, क्या तुम माणविका का……

श्रुतबुद्धि—मुझे बड़ा धोखा हुआ। विश्वास के पंखों पर उड़कर जो मैंने पाया था, आज वह नदी की लहरों में बहा जा रहा है। जीवन इतना क्षणिक है, विश्वास इतना पंगु है, प्रेम इतना कमज़ोर है, हृदय इतना दुर्बल है, यह मैंने आज ही जाना।

माणविका—तुम इतने दुःखी क्यों होते हो, मैं गान्धार से फिर लौट आऊँगी।

श्रुतबुद्धि—वर्षों प्रतीक्षा करने वाला हृदय क्षण भर भी विश्वास नहीं करता माणविका! तुम क्या इसी तरह लौट सकोगी? उतना ही सबल प्रेम लेकर! विश्वास नहीं होता। अच्छा चलूं। लहरें मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं। बिजलियाँ कड़ककर मेरी कमज़ोरी को देख रही हैं।

माणविका—मैं नहीं समझती तुम क्या कह रहे हो?

श्रुतबुद्धि—सिंहों से युद्ध करने वाली युवती हृदय से युद्ध नहीं कर सकती।

माणविका—तुम जानते हो? इस आधी रात को न जाने कौन मुझे इस नदी-तट पर खींचकर ले आता है। न जाने क्यों तुम्हारी मूर्ति मेरी आँखों में झूमती रहती है?

श्रुतबुद्धि—फिर भी तुम मेरे हृदय के घाव की गहराई को नहीं समझ पातीं माणविका!

माणविका—(लम्बी आह भरकर) मैं समझती हूँ श्रुतबुद्धि! अब समझी। तुम न जाने कौन-सी भाषा में बात करते हो? तुम बात करने में बड़े चतुर हो। क्या सभी मद्रक इसी प्रकार बहुत बातें करना जानते हैं?

श्रुतबुद्धि—(चुप रहकर कुछ सोचता हुआ) मैं नहीं चाहता कि तुम गान्धार जाओ।

माणविका—मैं विवश हूँ। माता-पिता जा रहे हैं। मुझे जाना ही होगा श्रुतबुद्धि।

(इसी समय माँ की आवाज आती है 'माणविका माणविका, ओ माणविका! अरी कहाँ है तू ?')

माणविका—यहाँ नदी पर सिंह-शावक को जल पिलाने आई थी। आ रही हूँ। (सिंह गरजता है) (धीरे से) तुम जाओ श्रुतबुद्धि, माता आ रही हैं, जाओ।

श्रुतबुद्धि—मैं नहीं जा सकता माणविका! इतनी दूर आकर लौट सकना असम्भव है। बोलो, तुम गान्धार नहीं जाओगी।

माणविका—मैं, मैं कुछ नहीं कह सकती श्रुतबुद्धि! तुम जाओ (नेपथ्य से 'माणविका! माणविका!' आवाज पास आ जाती है।)

माँ—मैं आ रही हूँ, देख बादल घिरे आरहे हैं। बिजली कड़क रही है। और तू नदी के किनारे अकेली है।

माणविका—अभी आ रही हूँ माँ, आ रही हूँ। यह सिंह नहीं आना चाहता। (गरजता है) देख बिजली की कड़क बादलों की गरज से यह कितना प्रसन्न होता है। (सिंह फिर गरजता है) तुम जाओ श्रुतबुद्धि, जाओ! माँ आ रही हैं।

श्रुतबुद्धि—तुम वचन दो।

माणविका—हम लोग कल रात्रि को यहीं मिलेंगे, जाओ!

माँ—देख, अन्न को पशु चरे जा रहे हैं। और तू नदी के तट पर बिजली की कड़क, मेघों की गरज, नदी की बाढ़ देख रही है। कौन है तेरे पास ?

(श्रुतबुद्धि एकदम नदी की धार में कूद पड़ता है। माँ का प्रवेश)

माणविका—कोई भी तो नहीं माँ ! कोई भी नहीं।

माँ—तू बोल रही थी न ?

माणविका—कोई भी न था। एक नक्र को देखकर मदनक गरज रहा था।

माँ—आज मद्रकों ने हमारे दो वामरथों को मार डाला, तूने सुना।

माणविका—क्यों ?

माँ—यह तो मुझे नहीं मालूम। कोई बात होगी। कोई कहता है कि वामरथ मद्रकों के प्रवेश में घुस रहे थे। कोई गहता है मद्रक उन्हें पकड़-कर ले गए।

माणविका—बड़े दुष्ट हैं मद्रक। नदी के उस पार ही तो मद्रकों का देश है।

माँ – आओ चलें। मद्रकों के कारण यह तट भी असुरक्षित होता जा रहा है। आओ चलें। तुझे अकेली समुद्र-तट पर डर नहीं लगता री ?

माणविका—डर किस बात का माँ ! मदनक जो मेरे साथ है।

माँ – मद्रकों का। हम लोग शीघ्र ही गान्धार चले जायेंगे।

माणविका—क्या मद्रकों से भय के कारण ही ?

माँ—यह प्रतिदिन का युद्ध मुझे अच्छा नहीं लगता। चल अन्न पड़ा है, पशु न खाएँ। तू किससे बात कर रही थी ?

माणविका—(मदनक से) चलो। (सिंह गरजता है)।

द्वितीय दृश्य

(अन्न-क्षेत्र से हरे-भरे वन में बलिष्ठ-शरीर नवयुवक श्रुत बुद्धि घूम रहा है। घनाच्छादित आकाश में कभी चन्द्रोदय हो जात

है। कभी श्रुतबुद्धि घूमता दिखाई देता है। घुटनों तक धोती, शेष शरीर मृग-चर्म के कंचुक से ढका हुआ। कमर में कुन्त। सिर के बाल पीछे की तरफ बिखरे हुए। अन्धकार में श्रुतबुद्धि घूम रहा है। क्षेत्रों में मंच दिखाई देते हैं। एक मंच के पास जाकर 'माणविका' 'माणविका' धीरे-धीरे आवाज़ लगाता है।)

श्रुतबुद्धि—(धीरे से) यह मंच पर कौन बैठा है, निश्चय ही यही माणविका है। माणविका ! प्रिय माणविका !

एक व्यक्ति—कौन है, कौन है ? (आगे बढ़कर) तुम कौन हो ?

श्रुतबुद्धि—श्रुतबुद्धि।

शबर—दर्भक, देखो, मुझे स्पष्ट नहीं दिखाई दे रहा है। देखो तो तनिक।

दर्भक—देखता हूँ ददा, (आगे बढ़कर श्रुतबुद्धि को पकड़कर) बोलो, तुम कौन हो ?

श्रुतबुद्धि—छोड़ो मुझे जाने दो। (छुड़ाता है, दर्भक पकड़ लेता है)

दर्भक—अब तुम नहीं जा सकते, तस्कर।

शबर—कौन है दर्भक ? क्या यह अन्न चुराने आया था ?

श्रुतबुद्धि—माणविका को मैंने मदनक भेंट में दिया था, उसे लेने को आया हूँ।

शबर—क्या कहा, माणविका को इसने मदनक भेंट दिया था ?

दर्भक—यही कहता है, (सामने जाकर) माणविका से तुम्हारा सम्बन्ध ?

श्रुतबुद्धि—सम्बन्ध ······क्या माणविका नहीं है ?

दर्भक—तुमने मदनक उसे क्यों दिया था ? नहीं, तुम तस्कर हो।

शबर—पकड़ लो दर्भक, पकड़ लो। यह कोई तस्कर है।

दर्भक—मदनक तुमने भेंट में दिया था ? तुम हो कौन ?

श्रुतबुद्धि—मैं मद्रक हूँ, श्रुतबुद्धि मेरा नाम है।

दोनों—मद्रक, दुष्ट मद्रक, अब तुम बचकर नहीं जा सकते। (दोनों में युद्ध होता है, शबर, दर्भक दोनों मिलकर श्रुतबुद्धि को मारते हैं, श्रुतबुद्धि 'अःह' करके गिर जाता है।)

शबर—मर गया ?

दर्भक—हाँ मर गया।

शबर—साँस तो नहीं है ?

दर्भक—नहीं, अब यह उठ नहीं सकता। मद्रकगण के किसी व्यक्ति को देखकर उसको सुरक्षित जाने देना वामरथों का धर्म नहीं है। चलो चलें।

शबर—हाँ, ठीक है। चलो।

(माणविका का प्रवेश)

माणविका—(उसी अन्धकार में) अभी तक श्रुतबुद्धि नहीं आया। क्या वस्तुतः वह अब न आयगा। हैं! यह क्या ? यह कौन है ? (पास जाकर) अरे श्रुतबुद्धि ! यह तुम्हारी दशा किसने की ? श्रुतबुद्धि ! अभी साँस तो चल रही है। ठहरो मैं जल डालती हूँ। श्रुतबुद्धि। नेत्र खोलो, मैं माणविका हूँ।

श्रुतबुद्धि—(धीरे से) माणविका !

माणविका—तुम्हारी यह दशा किसने की श्रुतबुद्धि !

श्रुतबुद्धि—(चुप रहता है।)

माणविका—बोलो प्रिय, तुम्हें क्या हुआ ?

श्रुतबुद्धि—माणविका, तुम्हारे पिता शबर और भाई दर्भक ने मिलकर मुझे मार ही डाला था। अब मैं स्वस्थ हूँ।

माणविका—तुम क्षेत्र में गये थे ?

श्रुतबुद्धि—हाँ, तुम्हें खोजता अन्न-क्षेत्र में गया था। अब मैं स्वस्थ हूँ।

माणविका—प्रिय! कल अन्न घर चला जायगा। इसके पश्चात् हमारा क्षेत्र का कार्य समाप्त हो जायगा। परसों हम लोग गान्धार जा रहे हैं।

श्रुतबुद्धि—फिर तुमने मुझे क्यों जीवित किया ? माणविका, मुझे यहीं नदी के तट पर मर जाने देतीं।

माणविका—प्रिय !

श्रुतबुद्धि—माणविका !

माणविका—मैं चुपचाप माता को सोती छोड़कर अन्तिम बार तुमसे मिलने आई हूँ। कल कुछ मद्रकों ने दो वामरथों को मार डाला। मैं मद्रकों से घृणा करती हूँ। तुमसे भी मिलना नहीं चाहती थी। किन्तु समय आते ही न जाने क्यों मुझसे रहा न गया। मैं सोई न रह सकी। दौड़ी हुई तुमसे मिलने चली आई।

श्रुतबुद्धि—मैं तुम्हारे बिना जीवित न रह सकूँगा। तुम्हें मेरे साथ चलना होगा।

माणविका—शत्रु मद्रकों के घर मैं नहीं जा सकती।

श्रुतबुद्धि—हमारा प्रेम मद्रकों-वामरथों से ऊपर है, माणविका! मैं वचन देता हूँ कि जीवन रहते तुम्हारी रक्षा करूँगा। तुम प्राण हो मैं शरीर, तुम हृदय हो मैं स्पन्दन, तुम वाणी हो मैं जिह्वा, माणविका !

माणविका—प्रिय, हम-तुम एक होकर रह सकेंगे ?

श्रुतबुद्धि—अवश्य हमें संसार की कोई शक्ति पृथक् नहीं कर सकती।

माणविका—नारी एक बार हृदय देती है।

श्रुतबुद्धि—मद्रक एक ही नारी को प्यार करते हैं।

तृतीय दृश्य

[सुरा-पान करते हुए मद्रकगण नाच रहे हैं]

छलक-छलक चले ।

सुरा भरे मधुर-मधुर चषक ढलक चले,
रंग-रंग रूप-रूप में ढले छलक-छलक चले ।
सुरा भरे मधुर-मधुर चषक ढलक चले,
प्रेम नेत्र-द्वार से ललक-ललक चले ।
छलक-छलक चले ।

गीत गा रही निशा सितार-तार पर,
होश भी उलझ रहे नेत्र-द्वार पर,
मदिर-मदिर सुगंध पी प्राण थक चले ।
छलक-छलक चले ।

महान गान आज यह समीर-ताल पर ।
घूमते सुरा-चषक अमन्द चाल पर ।
प्राण-प्राण गान कर ललल-ललक चले ।
छलक-छलक चले ।

सुरा भरे मधुर चषक ढलक-ढलक चले ।

सब—एक बार और मिलकर पियो ! श्रुतबुद्धि, माणविका के दीर्घ जीवन के लिए पियो ।

प्रथमक—हमारे जीवन पर संसार का जीवन निर्भर है, अतः अपने लिए पियो ! अपने नेत्र बन्द कर लेने पर संसार में अन्धकार छा जाता है और यह सुरा स्वर्ग-गमन के लिए सोपान है । अतः अपने लिए पियो ! एक बार पियो, अनेक बार पियो ! हा हा हा······ (पीता है)

मधुमती—प्रथमक, पीकर तुम भूल जाते हो कि कोई और भी है। हम मद्रकों में अपना तो कोई है ही नहीं। इसलिए मैं कहती हूँ सबके लिये पियो, सबके सुख के लिए पियो ! माणविका के लिए पियो, श्रुतबुद्धि के लिए पियो ! लो माणविका। (चषक देती है।)

आनन्दक—प्रमाद है, जीवन प्रमाद है मैं कहता हूँ कि इतना पियो कि जिससे अपने को, पराये को भूल जाओ। यही ब्रह्मानन्द है। युद्ध में जिस प्रकार जीवन का मोह नहीं होता, बैराग्य में जिस प्रकार मरण से घृणा, भय, नहीं होते, इसी प्रकार मरण-जीवन के बन्धन की उपेक्षा करके पियो। लो तुम पियो मधुमती, तुम्हारा नाम मधुमती है। प्रिय, स्वयं सुरामयी हो तुम !

श्रुतबुद्धि—माणविका मद्रकों की विजय-श्री है। प्रिये, सब मद्रक तुम्हारा स्वागत करते हैं, लो एक मेरे हाथ से प्रिये !

माणविका—प्रिय, प्रेम भेद नहीं जानता। उसकी दृष्टि में न मद्रक हैं न वामरथ। वह सबके लिए पेय है।

(मद की विह्वलता से सबकी आँखें विभोर हो उठती हैं। वृद्ध स्वयं उठकर नाचने लगते हैं। हा-हा-हू-हू से स्थल भर जाता है।)

सागरिका—माणविका सुरा जीवन के वसन्त का अग्रदूत है। आह तुम इस समय कितनी सुन्दर लग रही हो। (हँसती है।)

माणविका—ठीक कहती हो सागरिका, तुम्हारे अरुण कपोल भी तो कितने सुन्दर लग रहे हैं।

सब—ठीक सुन्दर (हा. हा हँसते हैं।)

सब—हा-हा एक बार नहीं अनेक बार मद्रकगण की जय !

गूँज उठे आकाश हमारा गूँज उठे,
गूँज उठे मधुमास दुलारा गूँज उठे। (हँसते हैं)

दीर्घक—बस करो, बस करो, तुमने सुना वामरथ मद्रकों पर आक्रमण करके माणविका के अपहरण का बदला लेना चाहते हैं। उत्सव बन्द करके युद्ध की तैयारी करो।

सब—माणविका मद्रकवर्ग की हो गई। हम उसकी रक्षा के लिए प्राण दे देंगे, चलो।

माणविका—प्रियतम श्रुतबुद्धि !

श्रुतबुद्धि—प्रिय !

माणविका—तुमने सुना ?

श्रुतबुद्धि—मद्रक युद्ध से कभी नहीं डरते, माणविका। हम लोग प्राण रहते तुम्हारी रक्षा करेंगे।

माणविका—हूँ !

श्रुतबुद्धि—चलो, प्रातःकाल उषा की लालिमा के साथ शाकल नदी को वामरथों के रक्त से रँग देने के लिए चलो।

सब—हाँ, चलो।

माणविका—श्रुतबुद्धि वामरथ मेरे बन्धु हैं, यह नहीं होगा।

श्रुतबुद्धि—फिर क्या होगा। युद्ध का आह्वान होने पर हम पीछे नहीं हट सकते।

माणविका—क्या युद्ध आवश्यक है श्रुतबुद्धि ?

श्रुतबुद्धि—प्रिये, हमारा जीवन गण के लिए है। मद्रक-गण के सेनानायक होने के नाते मेरा कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं युद्ध के लिए अपने गण को सन्नद्ध करूँ।

माणविका—(दीर्घ साँस लेकर चुप रह जाती है।)

श्रुतबुद्धि—आज्ञा दो प्रिये, बाहर कोलाहल बढ़ रहा है। सम्पूर्ण वर्ग मेरी प्रतीक्षा में है।

माणविका—मैं कुछ नहीं जानती ।

श्रुतबुद्धि—तुम्हारा मुख-चन्द्र फिर देखने का विश्वास लेकर जा रहा हूँ प्रिये ! (चला जाता है ।)

सागरिका—माणविका ! तुम उदास हो गईं । हम मद्रक स्त्रियाँ, ओह यह युद्ध कितना भयानक है ?

माणविका—सखी ! मैं भी युद्ध के लिए जाऊँगी ।

सागरिका—युद्ध के लिए जाना अनुचित नहीं, किन्तु क्या तुम अपने भाई-बन्धु वामरथों से युद्ध कर सकोगी ।

माणविका—यही सोचती हूँ, किन्तु मुझे जाना ही होगा, मैं ठहर नहीं सकती ।

सागरिका—कहाँ यह विलास और कहाँ मृत्यु ! कितना अन्तर है इसमें ।

माणविका—तुम सच कहती हो सखी ! प्रेम बलिदान चाहता है ।

सागरिका—ऐं ! तो क्या तुम अपना बलिदान दोगी ? क्या यह युद्ध किसी प्रकार रुक नहीं सकता ?

माणविका—तुमने सिंह की दाढ़ों से छीनकर मृग का मांस खाया है सागरिका ?

सागरिका—नहीं, पर इस समय इन बातों से क्या मतलब है तुम्हारा ?

माणविका—तुमने बरसाती नदी की वेगमयी धार में तैरते हुए नृत्य किया है सागरिका ?

सागरिका—नहीं ।

माणविका—मुझे एक चषक सोम दो ।

सागरिका—लो, पिओ। प्रियतम के पुनरागमन के लिए कादम्ब-पान करो सखी।

(गट-गट पीती है)

माणविका—एक और !

सागरिका—लो !

माणविका—एक चषक और दो !

सागरिका—बस, अब मत पियो। पहले भी तुमने अधिक पिया है। वह इक्षु-सुरा तुम्हारे द्राक्षा-रस से अधिक उग्र होती है, माणविका !

माणविका—दो, मुझे पीने से मत रोको। मैं आज सारा कादम्ब पीना चाहती हूँ। रोको मत सखी, और दो।

सागरिका—नहीं, अब मत पियो। अरे तुम कैसी हो रही हो ? जैसे तुमने अपने को भुला दिया है। हैं, हैं, अरे गिरी जा रही हो। ठहरो तुम्हें पर्यङ्क पर लिटा देती हूँ, चलो।

माणविका—मेरे प्राण आसव बनकर विश्व को विभोर करदें !

सागरिका—हमारा गण विजयी होकर लौटे !

चतुर्थ दृश्य

['वामरथों की जय' 'मद्रकों की जय के नारे लगते हैं]

वामरथों में से—यदि अपना कल्याण चाहते हो तो माणविका को लौटा दो।

मद्रकों में से—यह नहीं हो सकता। माणविका परिणीता बधू है, वह लौट नहीं सकती।

वामरथों में से—तो मरने के लिए तैयार हो जाओ, हम एक-एक मद्रक का नाश कर देंगे।

मद्रकों में से—बहुत बातें मत करो, युद्ध में ही बल की परीक्षा होती है। आओ युद्ध करो।

वामरथ—वामरथ गण की जय !

मद्रक—मद्रक गण की जय !

वामरथ—मरने के लिए तैयार हो जाओ।

मद्रक—तुम भी। आओ युद्ध करो।

(परशु, भाले, कृपाण खनखना उठते हैं, इसी समय)

माणविका—ठहरो, ठहरो, युद्ध बन्द करो।

वामरथ—कौन, माणविका ? वामरथ की जय !

मद्रक—माणविका, तुम जाओ, मद्रक गण की जय।

माणविका—मैं वामरथों की पुत्री और मद्रकों की वधू हूँ। मैं चाहती हूँ युद्ध बन्द हो।

वामरथ—मद्रकों ने हमारा अपमान किया है। माणविका को उठाकर ले चलो।

मद्रक—वामरथों ने हमारे ऊपर आक्रमण किया है, इसलिए हम उन्हें दण्ड देंगे।

माणविका—क्या युद्ध किसी भी तरह बन्द नहीं हो सकता ?

सब—युद्ध होगा। युद्ध बन्द नहीं होगा।

माणविका—दोनों मेरे ही गण हैं।

वामरथ—दुष्टे, तूने हमारा गण कलंकित किया। हम तुझे भी मार डालेंगे।

माणविका—मनुष्य सब समान हैं। गण का भेद बनावटी है।

वामरथ—बकवास मत कर।

—युद्ध करो।

वामरथ—आओ! (युद्ध होता है)

माणविका—(बीच में आकर) मैं प्रार्थना करती हूँ, युद्ध बन्द कर दो।

दोनों—(युद्ध करते हुए) हट जाओ, हट जाओ। (युद्ध होता रहता है। क्रोध चीत्कार से सारा आकाश गूँजने लगता है। माणविका देर तक खड़ी रहती है।)

माणविका—लो (आगे बढ़कर) यह मेरी ओर से भेंट! (खंग से सिर काटकर पहले खड़ी रहती है, फिर गिर जाती है।)

(दोनों दलों में युद्ध बन्द हो जाता है)

वामरथ—(चिल्लाकर) माणविका, यह तुमने क्या किया?

श्रुतबुद्धि—अरे, अरे, माणविका! यह क्या कर दिया प्रिये!

(सब लोग युद्ध बन्द करके माणविका को घेरकर खड़े हो जाते हैं।)

वामरथ—अब युद्ध व्यर्थ है।

मद्रक—अब युद्ध की आवश्यकता नहीं है। किन्तु माणविका का बलिदान! वह मद्रकों की वधू थी।

वामरथ—वह वामरथों की कन्या थी।

सब—वह दोनों की थी।

श्रुतबुद्धि—आज से मद्रकों का वामरथों से कोई वैर नहीं है।

सब—माणविका का बलिदान चिरंजीवी हो! माणविका की जय! हमारी

कटुता, शत्रुता का अन्त हो गया। आज से हम एक हैं। वामरथ मद्रक गण की जय !

(नेपथ्य से)

[इसके पश्चात् कई मास तक एक व्यक्ति की आवाज सुनाई देती रही। 'माणविका ! प्रिये माणविका !' किन्तु कभी कोई उत्तर नहीं मिला। कभी-कभी प्रतिध्वनि टकराकर कह उठती थी, 'माणविका।']

लक्ष्मी का स्वागत

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

परिचय—

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

'अश्क' जी शायद पहले नाटककार हैं जिन्होंने घरेलू जीवन के छोटे-मोटे अन्तर्द्वन्द्वों में मनचाहा रंग भरकर नाटक का रूप दिया है। इसी कारण उनके एकांकी दैनिक जीवन की प्रतिलिपि-सी बन जाते हैं। उनके नाटकों में फूलों की मनमोहक सुगन्ध के साथ नुकीले काँटे भी नजर आते हैं। दैनिक जीवन के जीते-जागते चित्र प्रस्तुत करने में आप सिद्धहस्त हैं। पाठक उनको पढ़कर या देखकर समझ बैठता है कि उसकी धड़कनें इसमें बाँध दी गई हैं। व्यंग का तीखा बाण जीवन की कड़वाहट को ग्राह्य बनाने में सहायक बनता है। 'अश्क' जी के नाटकों को जनता बड़े चाव से पढ़ती है और अपने जीवन को समझ पाती है। श्री जगदीशचन्द्र माथुर के शब्दों में "श्री अश्क को नाटककार का लिबास पहनने की आवश्यकता नहीं है। उनकी स्वाभाविक सूझ और अभिव्यक्ति नाटकीय गति से पगी है।"

प्रस्तुत एकांकी में भी इसी 'स्वाभाविक सूझ' का उत्तम परिचय मिलता है; इसमें हँसी के साथ रुदन को भी सँजोया गया है, विशेषतः इसमें रुदन ने हंसी को दबा सा दिया है; जिसके लिए 'अश्क' जी का निजी जीवन उत्तरदायी है। यह एकांकी उनकी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद लिखा गया है, इसीलिए नाटककार के हृदय में करुण-रस के घुमड़ते बादलों ने नाटक के वातावरण पर भी अपनी झिलमिल छाया बिखेर दी है।

आपकी भाषा सुलझी हुई और परिमार्जित है। शब्दों का चुनाव अत्युत्तम है। घरेलू मुहावरे सोने पर सुहागे का काम करते हैं। गति नवीनता और उत्सुकता लिए हुए है।

आप नियमित रूप से इलाहाबाद में साहित्य-सेवा कर रहे हैं। इनका एक प्रकाशन-गृह (नीलाभ) भी है।

नाटक के पात्र

रौशन—एक शिक्षित युवक ।

सुरेन्द्र—उसका मित्र ।

भाषी—उसका छोटा भाई ।

पिता—रौशन का बाप ।

माँ—रोशन की माता ।

अरुण—रौशन का बीमार बच्चा ।

लक्ष्मी का स्वागत

स्थान--जिला जालन्धर के इलाके में मध्य श्रेणी के मकान का दालान।

समय—नौ-दस बजे सुबह

(दालान में सामने की दीवार से मेज लगी है, जिसके इस ओर एक पुरानी कुर्सी पड़ी है। मेज पर बच्चों की किताबें बिखरी पड़ी हैं। दीवार के दाएँ कोने में एक खिड़की है, जिस पर मामूली छींट का पर्दा लगा है। बाएँ कोने में एक दरवाजा है, जो सीढ़ियों में खुलता है। दाईं दीवार में एक दरवाज़ा है, जो कमरे में खुलता है; जहाँ इस वक्त रौशन का बच्चा अरुण बीमार पड़ा है।

दीवार पर बिना फ्रेम के सस्ती तस्वीरें कीलों से जड़ी हुई हैं, छत पर कागज का एक पुराना फानूस लटक रहा है।

पर्दा उठने पर सुरेन्द्र खिड़की में से बाहर की तरफ देख रहा है। बाहर मूसलाधार वर्षा हो रही है। वहाँ को साँय-साँय और मेंह के थपेड़े सुनाई देते हैं।

कुछ क्षण बाद वह खिड़की का पर्दा छोड़कर कमरे में घूमता है, फिर जाकर खिड़की के पास खड़ा हो जाता है—और पर्दा हटाकर बाहर देखता है। दाईं ओर के कमरे में रौशनलाल दाखिल होता है!)

रौशन—(दरवाज़े को धीरे से बन्द करके) डाक्टर अभी नहीं आया।

सुरेन्द्र—नहीं।

रौशन—वर्षा हो रही है।

सुरेन्द्र—मूसलाधार ! इन्द्र का क्रोध अभी शान्त नहीं हुआ।

रौशन—शायद ओले पड़ रहे हैं !

सुरेन्द्र—हाँ, ओले भी पड़ रहे हैं।

रौशन—भाषी पहुँच गया होगा ?

सुरेन्द्र—हाँ, पहुँच ही गया होगा। यह वर्षा और ओले ! बाजारों में घुटनों तक से कम पानी नहीं होगा।

रौशन—लेकिन अब तक उन्हें आ जाना चाहिए था। (स्वयं बढ़कर, खिड़की के पर्दे को हटाकर देखता है, फिर पर्दा छोड़कर वापिस आता है) अरुण की तबियत गिर रही है।

सुरेन्द्र—(चुप)

रौशन—उसकी साँस जैसे हर घड़ी रुकती जा रही है, उसका गला जैसे बन्द होता जा रहा है; उसकी आँखें खुली हैं; पर वह कुछ कह नहीं सकता, बेहोश-सा असहाय-सा चुपचाप बिटर-बिटर ताक रहा है। आंखें लाल और शरीर गर्म है। सुरेन्द्र जब वह साँस लेता है तो उसे बड़ा ही कष्ट होता है। मेरा कलेजा मुँह को आरहा है। क्या होने को है सुरेन्द्र !

सुरेन्द्र—हौसला करो ! अभी डाक्टर आ जायगा। देखो, दरवाज़े पर किसी ने दस्तक दी है।

(दोनों कुछ क्षण तक सुनते हैं। हवा की साँय-साँय)

रौशन—नहीं, कोई नहीं, हवा है।

सुरेन्द्र—(सुनकर) यह देखो, फिर किसी ने दस्तक दी।

(रौशन बढ़कर खिड़की में देखता है, फिर वापिस आ जाता है।)

रौशन—सामने के मकान क दरवाज़ा खटखटाया जा रहा है।

(बेचैनी से कमरे में घूमता है। सुरेन्द्र कुर्सी से पीठ लगाए छत में हिलते हुए फ़ानूस को देख रहा है।)

—सुरेन्द्र, यह मामूली बुखार नहीं, यह गले की तकलीफ साधारण नहीं, मेरा तो दिल डर रहा है, कहीं अपनी माँ की तरह अरुण भी तो धोखा न दे जायगा ? (गला भर आता है) तुमने उसे नहीं देखा, साँस लेने में उसे कितना कष्ट हो रहा है !

(हवा की साँय-साँय और मेंह के थपेड़े)

—यह वर्षा, यह आँधी, यह मेरे मन में हौल पैदा कर रहे हैं। कुछ अनिष्ट होने को है। प्रकृति का यह भयानक खेल, यह मौत की आवाजें……(बिजली जोर से कड़क उठती है। दरवाज़ा ज़रा सा खुलता है। माँ झाँकती है।)

माँ—रौशन, दरवाज़ा खोलो, आओ, देखो शायद डाक्टर आया है।

(दरवाज़ा बन्द करके चली आती है।)

रौशन—सुरेन्द्र……

(सुरेन्द्र तेज़ी से जाता है। रौशन बेचेनी से कमरे में घूमता है। सुरेन्द्र के साथ डाक्टर और भाषी प्रवेश करते हैं। भाषी के हाथ में इन्जेक्शन का सामान होता है।

डाक्टर—क्या हाल है बच्चे का ?

(बरसाती उतारकर खूंटी पर टाँगता है और रूमाल से मुँह पोंछता है।)

रौशन—आपको भाषी ने बताया होगा। मेरा तो हौसला टूट रहा है। कल सुबह उसे कुछ ज्वर हुआ और साँस में तकलीफ हो गई और आज तो बेहोश-सा पड़ा है, जैसे अन्तिम साँसों को जाने से रोक रखने का भरसक प्रयास कर रहा है।

डा०—चलो देखता हूँ।

(सब बीमार के कमरे में चले जाते हैं। बाहर दरवाजे की आवाज आती है। माँ तेजी से प्रवेश करती है।)

माँ—भाषी ! भाषी !

(बीमार के कमरे से भाषी आता है।

माँ—देखो भाषी, बाहर कौन दरवाज़ा खटखटा रहा है ? (आँखों में चमक आ जाती है ।) मेरा तो······ख्याल है, वही लोग आये हैं। मैंने रसोई की खिड़की से देखा है। टपकते हुए छाते लिए और बरसातियां पहने······

भाषी—वही कौन ?

माँ—वही जो सरला के मरने पर अपनी लड़की के लिए कह रहे थे। बड़े भले आदमी हैं। सुनती हूँ, सियालकोट में उनका बड़ा काम है। इतनी वर्षा में भी······

(जोर-जोर से कुण्डी खटखटाने की निरन्तर आवाज़ आती है। भाषी भागकर जाता है। माँ खिड़की में जाकर खड़ी होती है। बीमारों के कमरे का दरवाज़ा खुलता है। सुरेन्द्र तेज़ी से प्रवेश करता है।)

सुरेन्द्र—भाषी कहाँ है ?

माँ—बाहर कोई आया है, कुण्डी खोलने गया है।

(सुरेन्द्र फिर तेजी से चला जाता है। माँ एक बार पर्दा उठाकर खिड़की से झाँकती है, फिर खुशी-खुशी कमरे में घूमती है। भाषी दाखिल होता है।)

माँ—कौन है ?

भाषी—शायद वही हैं ? नीचे बैठा आया हूँ, पिताजी के पास। तुम चलो।

मां—क्यों ?

भाषी—उनके साथ एक स्त्री भी है।

(माँ जल्दी-जल्दी चली जाती है। सुरेन्द्र कमरे का दरवाज़ा जरा-सा खोलकर देखता है, आवाज देता है—)

सुरेन्द्र—भाषी !

भाषी—हाँ

सुरेन्द्र—इधर आओ।

(भाषी कमरे में चला जाता है। कुछ क्षण के लिए खामोशी, केवल बाहर मेंह बरसने और हवा के थपेड़ों से किवाड़ों के खड़-खड़ाने का शोर। कमरे में फानूस के हिलने की सरसराहट। डाक्टर सुरेन्द्र, रौशन, और भाषी बाहर आते हैं।)

रौशन—डाक्टर साहब, अब बताइए।

डाक्टर—(अत्यधिक गम्भीरता से) बच्चे की हालत नाजुक है।

रौशन—बहुत नाजुक है ?

डाक्टर—हां !

रौशन—कुछ नहीं हो सकता ?

डाक्टर—परमात्मा के घर कुछ कमी नहीं; लेकिन आपने बहुत देर करदी है। खन्नाक *(Diphtheria) में तत्काल डाक्टर को बुलाना चाहिए।

रौशन—हमें मालूम ही नहीं हुआ डाक्टर साहब, कल शाम को इसे बुखार हो गया। गले में भी इसने बहुत कष्ट महसूस किया।

---

*Diphtheria —गले का संक्रामक रोग, जिसमें साँस बन्द हो जाने से मृत्यु हो जाती है।

मैं डाक्टर जीवाराम के पास ले गया—वही जो हमारे बाज़ार में हैं—उन्होंने गले में आयरन-ग्लिसरीन पेंट कर दी और फिवर-मिक्स्चर बना दिया। बस दो बार दवा दी, इसकी हालत पहले से खराब हो गई। शाम को कुछ बेहोश-सा हो गया। मैं भागा-भागा आपके पास गया, पर मिले नहीं, तब रात को भाषी को भेजा, फिर आप न मिले। डाक्टर जीवाराम आये थे, पर मैं उनकी दवा देने का हौसला न कर सका और फिर यह झड़ी लग गई।

(जरा काँपता है।)

—ओले, आँधी और तूफान। ऐसी प्रलयकारी वर्षा तो कभी न देखी थी।

(बाहर हवा की साँय-साँय सुनाई देती है। डाक्टर सिर नीचा किये खड़ा है, रौशन उत्सुक नज़रों से उसकी ओर ताक रहा है, सुरेन्द्र मेज़ के एक कोने पर बैठा छत की ओर ज़ोर-ज़ोर से हिलते फ़ानूस को देख रहा है।)

डाक्टर—(सिर उठाता है) मैंने इंजेक्शन दे दिया है। भाषी ने जो लक्षण बताये थे, उन्हें सुनकर मैं बचाव के तौर पर इंजेक्शन का सामान और ट्यूब लेता आया था और मेरा ख्याल ठीक निकला। भाषी को मेरे साथ भेज दो। मैं इसे नुस्खा लिख देता हूँ, यहीं बाज़ार से दवाई बनवा लेना, मेरी जगह तो दूर है। पन्द्रह-पन्द्रह मिनट के बाद हलक में दवा की दो चार बूँदें टपकाते रहना और एक घंटे में मुझे सूचित करना। यदि एक घंटे तक यह ठीक रहा तो मैं एक इंजेक्शन और कर जाऊँगा। इंजेक्शन के सिवा डिप्थीरिया का दूसरा इलाज नहीं।

रौशन—डाक्टर साहब······(आवाज भर आती है।)

डाक्टर—घबराने से काम न चलेगा, सावधानी से उसकी तीमारदारी करो,

शायद······।

रौशन—मैं अपनी तरफ़ से कोई कसर न उठा रखूँगा। सुरेन्द्र तुम मेरे पास रहना। देखो जाना नहीं, यह घर इस बच्चे के लिए वीराना है। यह लोग इसका जीवन नहीं चाहते, बड़ा रिश्ता पाने के मार्ग में इसे रोड़ा समझते हैं। इसकी मृत्यु चाहते हैं, सुरेन्द्र !

सुरेन्द्र—तुम क्या कह रहे हो रौशन ? उन्हें क्या यह प्रिय नहीं ? मूल से ब्याज प्यारा होता है ?

डाक्टर—क्या कह रहे हो, रौशनलाल ?

रौशन—आप नहीं जानते डाक्टर साहब ! यह सब लोग हृदयहीन हैं, आपको मालूम नहीं। इधर मैं अपनी पत्नी का दाहकर्म करके आया था, उधर ये लोग दूसरी जगह शादी के लिए शगुन लेने की सोच रहे थे।

सुरेन्द्र—यह तो दुनिया का व्यवहार है, भाई !

रौशन—दुनिया का व्यवहार इतना शुष्क, इतना निर्मम, इतना क्रूर है ? मैं उससे नफ़रत करता हूँ ! क्या ये लोग नहीं समझते कि यह जो मर जाती है, वह भी किसी की लड़की होती है, किसी माता-पिता के लाड़ में पली होती है, फिर उसके मरते ही सगाइयाँ लेकर दौड़ते हैं ! स्मृति-मात्र से मेरा खून उबलने लगता है !

डाक्टर—(चौंककर) देर हो रही है, मैं दवा भेजता हूँ। (भापी से) भापा, चलो !

(डाक्टर साहब और भापो का प्रस्थान)

रौशन—सुरेन्द्र, क्या होने को है ? क्या अरुण भी मुझे सरला की भाँति छोड़कर चला जाएगा ? मैं तो इसका मुँह देखकर सन्तोष किये हुए था। उसी-जैसी भोली-भाली आँखें, उसी-जैसे मुस्कराते ओंठ,

उसी-जैसा सीधा सरल स्वभाव ! मैं इसे देखकर सरला का ग़म भूल चुका था; लेकिन अब, अब······

(हाथों से चेहरा छिपा लेता है)

सुरेन्द्र—(उसे धकेलकर कमरे की ओर ले जाता हुआ) पागल न बनो, चलो, उसके घर में क्या कमी है ? वह चाहे तो मरते हुओं को बचा दे, मृतकों को जीवन प्रदान कर दे।

रौशन—(भर्राए गले से) मुझे उस पर कोई विश्वास नहीं रहा, उसका कोई भरोसा नहीं—क्रूर, कठिन और निर्दयी ! उसका काम सताए हुओं को और सताना है, जले हुए को और जलाना है। अपने इस जीवन में हमने किसको सताया, किसको दुःख दिया, जो हम पर ये बिजलियाँ गिराई गईं, हमें इतना दुःख दिया गया !

सुरेन्द्र—दीवाने न बनो, चलो, उसके सिरहाने चलकर बैठो ! मैं देखता हूँ, भाषी क्यों नहीं आया !

(उसे दरवाजे के अन्दर धकेलकर मुड़ता है। दाईं ओर के दरवाजे से माँ दाखिल होती है।)

माँ—किधर चले ?

सुरेन्द्र—जरा भाषी को देखने जा रहा था ?

माँ—क्या हाल है अरुण का ?

सुरेन्द्र—उसकी हालत खराब हो रही है।

माँ—हमने तो बाबा बोलना ही छोड़ दिया। ये डाक्टर जो न करें, थोड़ा है। बहू के मामले में भी तो यही बात हुई थी। अच्छी भली हकीम की दवा हो रही थी, आराम आ रहा था, जिगर का बुखार ही था, दो-दो वर्ष भी रहता है; पर यह डाक्टर को

लाए बिना न माना। डाक्टरों को आजकल दिक़ के बिना कुछ सूझता ही नहीं। जहाँ बुखार पुराना हुआ, जरा खाँसी आई कि दिक़ का फतवा दे देते हैं। 'मुझे दिक हो गया है !'— यह सुनकर मरीज की आधी जान तो पहले ही निकल जाती है। हमने तो भाई इसलिए कुछ कहना-सुनना छोड़ दिया है। आखिर मैंने भी तो पाँच बच्चे पाले हैं। बीमारियाँ हुईं, कष्ट हुए, बीमारों के पीछे भागी-भागी नहीं फिरी। क्या बताया डाक्टर ने ?

सुरेन्द्र—डिप्थीरिया।

माँ—वह क्या होता है ?

सुरेन्द्र—बड़ी खतरनाक बीमारी है, माँजी ! अच्छा-भला आदमी दो-चार दिन के अन्दर खत्म हो जाता हैं।

माँ—(काँपकर) राम-राम, तुम लोगों ने क्या कुछ-का-कुछ बना डाला। उसे जरा ज्वर हो गया, छाती जम गई, बस मैं घुट्टी दे देती तो ठीक हो जाता, लेकिन मुझे कोई हाथ लगाने दे तब न ! हमें तो वह कहता है, बच्चे से प्यार ही नहीं।

(चलने को उद्यत होता है।)

माँ—सुनो !

(सुरेन्द्र रुक जाता है।)

माँ—मैं तुमसे बात करने आई थी, तुम उसके मित्र हो, उसे समझा सकते हो।

सुरेन्द्र—कहिए।

माँ—आज वह फिर आये हैं।

सुरेन्द्र—वे कौन ?

माँ—सियालकोट के एक व्यापारी हैं। जब सरला का चौथा हुआ था तो उस दिन रौशी के लिए अपनी लड़की का शगुन लेकर आये थे। पर उसे न जाने क्या हो गया है, किसी की सुनता ही नहीं, सामने ही न आया। हारकर बेचारे चले गये। रौशी के पिता ने उन्हें एक महीने बाद आने को कहा था, सो पूरे एक महीने बाद आये हैं।

सुरेन्द्र—माँजी……

माँ—तुम जानते हो बच्चा, दुनिया-जहान का यह कायदा ही है। गिरे हुए मकान की नींव पर ही दूसरा मकान खड़ा होता है। रामप्रताप को ही देख लो, अभी दाह-कर्म संस्कार के बाद नहाकर साफ़ा भी न निचोड़ा था कि नकोदर वालों ने शगुन दे दिया, एक महीने के बाद विवाह भी हो गया। और अब तो सुनते हैं, एक बच्चा भी होने वाला है।

सुरेन्द्र—माँजी, रामप्रताप और रौशन में कुछ अन्तर है।

माँ—यही कि वह माता-पिता का आज्ञाकारी है और यह पढ़-लिखकर माँ-बाप की अवज्ञा करना सीख गया है। और अभी तो चार नाते आते हैं, फिर देर हो गई तो इधर कोई मुँह भी न करेगा। लोग सौ बातें बनाएँगे, सौ-सौ लांछन लगायेंगे और फिर ऐसा कौन क्वारा है………।

सुरेन्द्र—तुम्हारा रौशन बिन-ब्याह नहीं रहेगा, इसका मैं यकीन दिलाता हूँ।

माँ यही ठीक है, पर अब यह शरीफ आदमी मिलते हैं। घर अच्छा है, लड़की अच्छी है, सुशील है, सुन्दर है, सुशिक्षित है, और सबसे बढ़कर यह है कि ये लोग बड़े भले हैं। लड़की की बड़ी बहन से अभी मैंने बातें की हैं। ऐसी सलीके वाली है कि क्या कहूँ! बोलती है तो फूल झड़ते हैं। जिसकी बड़ी बहन ऐसी

हो, वह स्वयं कैसे अच्छी न होगी ?

सुरेन्द्र—माँजी, अरुण की तबियत बहुत खराब है। जाकर देखो तो मालूम हो।

माँ—बेटा, ये भी तो इतनी दूर से आए हैं। इस आँधी और तूफान में कैसे उन्हें निराश लौटा दूँ !

सुरेन्द्र—तो आखिर आप मुझसे क्या चाहती हैं ?

माँ—तुम्हारा वह मित्र है, उससे जाकर कहो कि जरा दो-चार मिनट जाकर उनसे बात कर ले। जो कुछ वे पूछते हों, उन्हें बता दे, इतने में लड़के के पास बैठती हूँ।

सुरेन्द्र—मुझसे यह नहीं हो सकता माँजी, बच्चे की हालत ठीक नहीं; बल्कि शोचनीय है। और आप जानती हैं, वह उसे कितना प्यार करता है। भाभी के बाद उसका सब ध्यान बच्चे में केन्द्रित हो गया है। वह उसे अपनी आँखों में बिठाए रखता है, स्वयं उसका मुँह-हाथ धुलाता है, स्वयं नहलाता है, स्वयं कपड़े पहनाता है और इस वक्त जब बच्चे की हालत ठीक नहीं, मैं उससे यह सब कैसे कहूँ ?

रौशन—सुरेन्द्र, तुम अभी यहीं खड़े हो ? परमात्मा के लिए जल्दी जाओ ! मेरी बरसाती ले लाओ, नीचे से छतरी ले जाओ, देखो भाषी आया क्यों नहीं ? अरुण तो जा रहा है, प्रतिक्षण जैसे डूब रहा है !

माँ—क्या बात है, घबराए क्यों हो ?

रौशन—माँ, उसे डिप्थीरिया हो गया है।

माँ—सुरेन्द्र ने बताया है। (असन्तोष से सिर हिलाकर) तुम लोगों ने मिल-मिलाकर······

रौशन—क्या कह रही हो ? तुम्हें अगर स्वयं कुछ मालूम नहीं तो दूसरों को तो कुछ करने दो ।

माँ—चलो, मैं चलकर देखती हूँ ।

(बढ़ती है ।)

रौशन—(रास्ता रोकता है) नहीं, तुम मत जाओ । उसे बेहद तकलीफ है, उसे साँस मुश्किल से आता है, उसका दम उखड़ रहा है, तुम कोई घुट्टी-वुट्टी की बात करोगी, तुम यहीं रहो, मैं उसे बचाने की अन्तिम कोशिश करूँगा ।

(जाना चाहता है ।)

माँ—सुनो !

(रौशन मुड़ता है । माँ असमंजस में है ।)

रौशन—कहो !

माँ—(चुप)

रौशन—जल्दी-जल्दी कहो, मुझे जाना है ।

माँ—वे फिर आए हैं ।

रौशन—वे कौन ?

माँ—वही सियालकोट वाले !

रौशन—(क्रोध से) उनसे कहो, जिस तरह आये हैं वैसे ही चले जाएँ ।

(जाना चाहता है)

माँ—रौशी !

रौशन—मैं नहीं जानता, मैं पागल हूँ या आप ! क्या आप मेरी सूरत नहीं देखतीं ? क्या आपको इस पर कुछ लिखा दिखाई नहीं देता ? शादी, शादी, शादी ! क्या शादी ही दुनिया में सब

कुछ है ! घर में बच्चा मर रहा है और तुम्हें शादी सूझ रही है। आखिर तुम लोगों को हो क्या गया है ? वह अभी मृत्यु शय्या पर पड़ी थी कि तुमने मेरी साली को लेकर शादी की बात चला दी; वह मर गई, मैं अभी रो भी न पाया कि तुम शगुन लेने पर जोर देने लगीं। क्या वह मेरी पत्नी न थी ? क्या वह कोई फालतू चीज़ थी ?

माँ—शोर मत मचाओ ! हम तुम्हारे फ़ायदे की बात करते हैं, रामप्रताप······

रौशन—(चीखकर) तुम रामप्रताप को मुझसे मिलाती हो ? अनपढ़, अशिक्षित, गँवार ! उसके दिल कहाँ है ? महसूस करने का माद्दा कहाँ है ? वह जानवर है !

माँ—तुम्हारे पिता ने भी तो पहली पत्नी की मृत्यु के दूसरे महीने ही विवाह कर लिया था······

रौशन—वे······माँ जाओ, मैं क्या कहने लगा था ?

(तेज़ी से मुड़कर कमरे में चला जाता है और दरवाज़ा बन्द कर लेता है। हाथ में हुक्का लिये हुए, खँखारते-खँखारते रौशन के पिता का प्रवेश ।)

पिता—क्या कहता है रौशन ?

माँ—वह तो बात भी नहीं सुनता, जाने बच्चे की तबियत बहुत खराब है।

पिता—(खँखारकर) एक दिन में ही इतनी क्या खराब हो गई। मैं जानता हूँ, यह सब बहानेबाजी है।

(जोर से आवाज़ देता है—)

रौशी, रौशी।

(खिड़कियों पर वायु की थपेड़ों की आवाज़) (फिर आवाज़ देता है—)

रौशी, रौशी।

(रौशन दरवाजा खोलकर झाँकता है। चेहरा पहले से भी उतरा हुआ हैं, आँखें रुआंसी-सी और निगाहों में करुणा।)

रौशन—(अत्यन्त थके स्वर से) धीरे बोलें, आप क्या शोर मचा रहे रहे हैं।

पिता—इधर आओ!

रौशन—मेरे पास समय नहीं?

पिता—(चीखकर) समय नहीं?

रौशन—धीरे बोलिये आप!

पिता—मैं कहता हूँ, वे इतनी दूर से आए हैं, तुम्हें देखना चाहते हैं, तुम जाकर उनसे जरा एक-दो मिनट बातचीत करलो।

रौशन—मैं नहीं जा सकता।

पिता—नहीं जा सकता?

रौशन—नहीं जा सकता।

पिता—तो मैं शगुन ले रहा हूँ! इस वर्षा, आँधी और तूफान में मैं उन्हें अपने घर से निराश नहीं भेज सकता, घर आई लक्ष्मी को नहीं लौटा सकता। लड़की अच्छी है, सुन्दर है, घर के काम-काज में चतुर है, चार-पाँच श्रेणी तक पढ़ी है। रामायण, महाभारत बखूबी पढ़ लेती है।

(रोने की तरह रौशन हँसता है)

रौशन—हाँ, आप लक्ष्मी को न लौटाइए।

(खट-से दरवाज़ा बन्द कर लेता है।)

पिता—(रौशन की माँ से) इस एक महीने में हमने कितनों को इन्कार किया है, पर इनको कैसे इन्कार करें ? सियालकोट में बड़ी भारी इनकी फर्म है। मैंने महीने भर में अच्छी तरह पता लगा लिया है। हजारों का तो इनके यहाँ लेन-देन है। उन्हें कुछ बहू की बीमारी की ओर से आशंका थी। पूछते थे—उसका देहान्त किस रोग से हुआ ? सो भाई मैंने तो यही कह दिया—दिक-विक कुछ नहीं थी, जिगर की बीमारी थी। (गर्व से) लाख हो, रौशन जैसा कमाऊ लड़का मिल भी कैसे सकता है ? बेकारों की फौज दरकार हो तो चाहे जितनी मर्जी इकट्ठा कर लो। उस दिन लाला सुन्दरलाल अपनी लड़की के लिए कह रहे थे—कालेज में पढ़ती है। पर मैंने तो इन्कार कर दिया।

माँ—अच्छा किया ! मुझे तो आयु भर उसकी गुलामी करनी पड़ती—बच्चे को पूछते होंगे ?

पिता—हाँ, मैंने तो कह दिया—बच्चा है, पर माँ की मृत्यु के बाद उसकी हालत ठीक नहीं रहती !

माँ—तो हाँ कर दें।

पिता—हाँ मैं तो शगुन ले लूंगा।

(चले जाते हैं। हुक्के की आवाज दूर होते-होते गुम हो जाती है। माँ खुशी-खुशी में घूमती है, कमरे में भाषी आता है और तेजी से निकल जाता है।)

माँ—भाषी !

भाषी—मैं डाक्टर के यहाँ जा रहा हूँ !

(तेजी से चला जाता है। बीमार के कमरे से सुरेन्द्र निकलता है।)

सुरेन्द्र—मांजी !

माँ—क्या बात है ?

सुरेन्द्र—दाने लाओ और दिए का प्रबन्ध करो !

माँ—क्या ?······

(आंखें फाड़े उसकी ओर देखती है। हवा की साँय-साँय)

सुरेन्द्र—अरुण इस संसार से जा रहा है !

(फ़ानूस टूटकर धरती पर पड़ता है। माँ भागकर दरवाजे पर जाती है।)

माँ—रौशी, रौशी !

(दरवाजा अन्दर से बन्द ।)

माँ—रौशी, रौशी !

रौशन—(कमरे के अन्दर से भर्राये स्वर में) क्या बात है ?

माँ—दरवाजा !

रौशन—तुम पहले लक्ष्मी का स्वागत कर लो !

माँ—रौशी !······

(बाईं ओर के दरवाजे के बाहर से खँखारने की और हुक्के की आवाज।)

पिता—(सीढ़ियों से ही) रौशन की माँ बधाई हो !

(रौशन के पिता का प्रवेश। माँ उनकी ओर मुड़ती है।)

पिता—बधाई हो, मैंने शगुन ले लिया !

(कमरे का दरवाजा खुलता है, मृत-बालक का शव लिये रौशन का प्रवेश।)

रौशन—हाँ, नाचो, गाओ, बाजे बजाओ !

(पिता के हाथ से हुक्का गिर जाता है और मुँह खुला रह जाता है।)

पिता—मेरा बच्चा ! (वहीं बैठ जाता है।)

माँ—मेरा लाल (रोने लगती है।)

सुरेन्द्र—माँजी, जाकर दाने लाओ और दिए का प्रबन्ध करो।

पर्दा

———

ठाकुर का घर

एस० पी० खत्री

परिचय—

एस० पी० खत्री

प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डा० एस० पी० खत्री, एम० ए०, डी० फिल, का असामयिक देहावसान गत ७ जनवरी १९५८ को हुआ। आप हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार और विख्यात आलोचक थे। उनके परलोक-गमन से हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र का एक महारथी चला गया। हिन्दी साहित्य को आपने अनेकानेक पुस्तकें दीं। इनमें दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ— 'हास्य की रूप-रेखा' और 'आलोचना—इतिहास तथा सिद्धांत' हैं। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ी साहित्य का इतिहास भी आपने लिखा है।

आप एक सफल एकांकीकार भी थे। प्रस्तुत एकाँकी 'ठाकुर का घर' एकाँकी कला की दृष्टि से एक उत्कृष्ट एकाँकी है। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य कई भाषाओं के विद्वान होने के कारण आपका गम्भीर अध्ययन रहा है। इनके नाटकों में नाट्य-शिल्प के प्रायः सभी तत्व विद्यमान होते हैं। प्रस्तुत एकाँकी में पात्रोचित भाषा इसकी एक विशेषता है। प्रणय और कर्त्तव्य का संघर्ष और अन्त में कर्त्तव्य के पथ पर बलि होना भारत का शताब्दियों से एक आदर्श रहा है। 'ठाकुर का घर' नाटक में उस चीज़ को भली-प्रकार प्रस्तुत किया गया है। यह नाटक १९४२ के जन आन्दोलन की एक झाँकी उपस्थित करता है।

———

नाटक के पात्र

उत्तमसिंह

गङ्गा —उसकी माँ

शान्ति —उसकी नव-वधू

कप्तान डूडिल—फौजी टुकड़ी का सुपरिण्टेण्डेन्ट

हजारासिंह —सिख हवलदार

गोविन्द —सिपाही

ठाकुर का घर

(सन् १६४२ : बिहार प्रदेश, एक छोटा गाँव, उसके पास से सड़क निकलती हुई। सड़क से लगा हुआ एक पुराना कच्चा मकान, जिसकी खिड़की सड़क पर खुलती है, खिड़की के चौखटे में बाँस की खपाच्चियाँ जड़ी हुई हैं। गाँव के झोंपड़े बहुत दूर हैं, इससे कच्चा मकान अकेला और शान्त मालूम होता है।

कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा है। खेतों पर गाँव के घरों के कण्डों का धुँआ ठंडक से नीचे उतरकर हर तरफ घना हो गया है। कभी-कभी जोर की हवा चलकर बांस की खपाची-जड़ी हुई खिड़की से घुसकर उसके अन्दर वालों को कंपकपी ला देती है। कमरे में एक तरफ दो चारपाइयाँ बिछी हैं और उनके नीचे आग सुलग रही है। कमरे के अन्दर एक तरफ टाँड पर कुछ पुराने बक्स और गद्दे पड़े हैं, उनके पास ही एक नया बक्स बिना ताले के रखा है। एक तरफ टूटे छाते और चक्की रखी हुई है। मकान का दरवाज़ा खिड़की के पश्चिम की ओर है, जिससे होकर एक पगडण्डी सड़क में मिल जाती है।

हवा के जोर से जब दरवाजा खड़खड़ाता है तो गंगा धीरे-धीरे जाकर दरवाजे के दराज से झाँककर लौट आती है। शांति कभी खिड़की के नजदीक और कभी दरवाजे के पास खड़ी हो जाती है।]

गंगा—बाहर तो जो तूफान खड़ा है उससे तो मालूम होता है कि घर ही ढह पड़ेगा।

शान्ति—पाला कैसा पड़ रहा है; हाथ-पैर जब हमारे सुन्न हो गए तो न जाने तुम्हें कैसा लगता होगा, भाभी ?

गंगा—अरे मझे क्या ! पुरानी हड्डियों को सर्दी नहीं सताती बहू । ज़रा झाँककर देख तो कुछ दिखता है। मुझे तो दूर तक अँधियारा ही अँधियारा दीख पड़ता है।

(शान्ति धीरे-धीरे जाकर दरवाजे की दराज से बड़े गौर से देखती है। लौटकर)

शान्ति—भाभी मुझे पगडण्डी भी नहीं दिखलाई देती है; दूर तक तो कुहासा छाया-सा हुआ है। कहो तो खिड़की पर लालटेन रख दूं।

गंगा—लालटेन ! क्यों ! अभी तो किसी ने खटखटाया नहीं ! अभी जल्दी क्या है। उसने तो कहा था न कि जब दरवाज़ा खटके तभी लालटेन रखना।

शान्ति—क्या जाने इस अँधियारी में उन्हें रास्ता भी मिलेगा या नहीं ! मैंने सोचा कि इस जाड़े-पाले में दरवाज़ा खटखटाने की हिम्मत किसे होगी !

गंगा—बहू उतावली मत हो। जो उसने कहा है वही कर। ला, ज़रा बोरसी इधर सरका दे। उँगलियाँ तो सीधी करूँ। एक कण्डा उसमें और डाल दे।

शान्ति—(बोरसी में कण्डा डालकर उसे गंगा के पास रखती है) भाभी ! न जाने मेरे मन में कैसा-कैसा हो रहा है। ऐसा मालूम होता है जैसे हाथ-पैर काम नहीं देते। जब-जब हवा का झोंका दरवाज़ा खटखटा देता है, मैं तो काँप उठती हूँ। दरवाजे पर झाँकने गई थी न, तब ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई चीख-चीख-कर अपनी जान दे रहा है।

गंगा—तू आज की घबराने वाली थोड़े ही है; तुझे तो अँधेरा यों ही काट खाता था और आज की रात तो अमावस है, फिर पूस माघ का पाला ! तुझे तो सब अण्ड-बण्ड दिखेगा ।

शांति—नहीं भाभी ! मैं तो कभी ऐसी······

[खिड़की के बाहर कुछ सरसर आवाज]

गंगा—(धीरे से कान लगाकर) नहीं, कुछ नहीं। हवा ही निगोड़ी जैसे जी में हड़कम्प मचा देती है। ऐसे अँधेरिया और उस पर रत-जगा ! भगवान् ही बचावें।

शांति—मुझे तो भाभी, ऐसा मालूम हुआ जैसे कई आदमी इधर से ही गए हों।

गंगा—आदमी इधर से क्यों जायेंगे ! सड़क पर तो कभी-कभी फौजी सिपाही गश्त लगाते दिखाई देते हैं। आज दस दिन से तो यही हो रहा है। उनके लिए तो आदमी ढोर बकरी हैं, आव देखते हैं न ताव, बन्दूक उठाई और ढेर कर दिया। कैसा जमाना आया है भगवान् !

शांति—भाभी ! क्या खून बहते देख हत्यारों को डर नहीं लगता ? न जाने कितने घर मिटा दिए, उनके दिया-बत्ती करने वाला भी कोई नहीं रहा। कल ही तो न सुखिया की माई आई थी, बेचारी पागल थी पागल, बाल बिखेरे, खून थूक रही थी।

गंगा—जिसका सब कुछ हर जाए बहू, तो क्या उसके मुँह से फूल झरेंगे। अब उसके है ही कौन, सात-सात बेटे तो उसने होम दिये। घर की एक ईंट खड़ी नहीं, अब तक उनकी लाश निकालने वाला भी कोई न मिला। आदमी तो जैसे इस तरफ गूलर के फूल हो गए। गौरैया ऐसे तो पट-पट मारे गए। न जाने भगवान् ने क्या लिख रखा है।

शांति—(उकताकर) देर तो अब काफी हो गई और अब तक कुछ नहीं

सुन पड़ा ; शायद कहीं वे रास्ते ही में तो नहीं पकड़ लिए गए। भाभी । अगर कहीं ऐसा हुआ तो अब भाग ही फूट जायेंगे।

गंगा—ऐसा दिल छोटा करके बात नहीं करते बहू ! यह तो सोच, उत्तम के ऊपर कितनी बड़ी जिम्मेदारी है। पन्द्रह आदमियों का साथ और सबकी जान की रखवाली कुछ हँसी-खेल तो है नहीं। अगह वह आज अपने साथियों को निकाल पाया तो बहू, उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर पायेगा। आज की रात ही क़तल की रात समझो।

शांति—उनको अब तक तो कभी का आ जाना चाहिए था—कहा तो यही था कि चिराग जले के एक घड़ी बाद आऊँगा। अब काफी रात हुई और पता-निशान तक नहीं।

गंगा—तुझे उसकी ही सोच है, ज़रा उनकी भी तो सोच जो हथेली पर जान रखे उनके पीछे-पीछे घूम रहे हैं, उनके भी तो माँ-बहनें होंगी। पखवारों से वे फौज वालों से बचते हुए, चूहों ऐसे कहीं खेत-खलिहान में जान बचाए फिर रहे हैं। आज भगवान् करे कुशल से बीत जाय तो वे कल तक तो मीलों आगे होंगे। फौजी उनकी महक तक न पायें।

(दरवाजे पर धीरे-धीरे कुण्डी खटकती है—)

गंगा—(घबराकर) शान्ति !

शांति—(धीरे से) भाभी ! देखकर खोलना। कहीं कोई—

गंगा—खोल भी, चली वहाँ से कहीं कोई करने। पहले लालटेन खिड़की पर रख !

(शांति खिड़की पर लालटेन रखती है)

शांति—भाभी इससे तो दरवाजा खुलते ही रोशनी मीलों जायेगी ! कहो तो लालटेन कोने में करके कुण्डी खोल दूं !

गंगा—हाँ, हाँ, रख भी, जल्दी कर।

(लालटेन कोने में रखकर वह कुण्डो खोलती है। गंगा भी उठ खड़ी होती है और धीरे-धीरे दरवाजे के पास जाती है। दरवाजा खुलते ही एक बीस वर्ष का युवक एक अंगोछे से मुँह लपेटे अन्दर आता है, गंगा उसे छूती है।)

गंगा—अरे तू तो बिल्कुल भीग गया! पानी में जैसे डूबकर आया हो। अन्दर आ, जल्दी कपड़े खोल, नहीं तो सर्दी लग जायेगी।

उत्तम—हाँ अम्मा, डूबकर ही आया हूँ, नहीं तो आज आ भी न पाता। करमनासा के पुल पर ऐसा पहरा है जैसे किसी राजा की कोठी पर भी न होगा। चोरबत्ती लिए फौजी अपना शिकार ऐसे ढूंढ रहे हैं जैसे बिल्ली चूहा सूंघती है। मगर अम्मा! ऐसा छकाया इनको कि जिन्दगी भर याद करेंगे। हवा तक उनको न मिल पाई, यह समझकर बन्दूकें चलाते हैं मानो आदमी उनके सर के ऊपर उड़ रहा हो।

(कपड़े उतारता है और कमर से लिपटी पिस्तौल निकालकर चारपाई के पायताने रख देता है और शांति उसे धोती-कुरता नये बक्स से निकालकर देती है।)

गंगा—तेरे साथी उत्तम! उनको कहाँ छोड़ा?

[शांति बड़े गौर से सुनती है]

उत्तम—वे सब बड़े मजे में हैं, उन्हें सुअरा नदी के पूरब वाली खोह में छोड़ आया हूँ। बड़े मर्द हैं अम्माँ, ऐसे कि कुछ मत पूछो।

गंगा—उन बेचारों के खाने-पीने का?

उत्तम—(बात काटकर) खाने-पीने की किसे सुध है, अब तो यही आन है कि फौजी चाहे कुओं में बाँस डालें, मगर ठाकुरों के गिरोह का

पता नहीं पा सकते। उन्होंने अपनी तहसील पर सात दिन राज कर लिया ! क्या कम है ?

शांति—कर तो लिया; मगर अब तो देखिए कितनी मुसीबत फट-फट पड़ी है। पखवारों से घर-दुवार छोड़े आप सब जंगल की धूल फाँक रहे हैं। एक दिन भी चैन न मिला।

उत्तम—औरतों को घर-द्वार और खाना-पीना ही सूझता है। कुछ यह भी सोचा कि दुनिया में और क्या हो रहा है ? कहाँ तो राज-पाट उलट रहा है; 'अपने घर में अपने राज' का नारा लग रहा है और तुम्हें चैन, आराम की याद पड़ी है। और-और सूबों का हाल तो देखो, फौजियों के छक्के छुड़ा दिए, छक्के। अब क्या हम ठाकुरों का नाम हँसायेंगे ?

शांति—नाम हँसाने को कौन कहता है ? मैं तो यही कह रही थी कि जो कुछ होना है जल्दी खतम हो, रोज की परेशानी से तो उमर घटती है।

गंगा—अरे शान्ति ! तू भी वेद-पुराण ले बैठी; चल जल्दी कुछ खाने को निकाल, तब बहस कर। आदमी तो परेशानी उठाने के लिए ही पैदा होता है। क्या ये सब कहने वाली बातें हैं।

(शांति जल्दी उठकर एक थाली में पूरी, मिठाई, हलवा ले आकर एक आसन बिछाकर रखती है। एक बड़ी पोटली भी जिसमें खाना बँधा रखा है उसके पास ही रख देती है।)

उत्तम—जरा पहले बक्स से नया दुशाला तो निकाल दो, तब तक मैं भी आग ताप लूं। ला अम्मा ! जरा अपनी बोरसी इधर तो ला।

(गंगा बोरसी हिला-डुलाकर उसके पास रखती है।)

गंगा—ले बेटा, खाता जा और तापता जा। फिर थोड़ा आराम कर ले, तब जाना।

उत्तम—अम्मा, इतना ज्यादा वक्त कहाँ कि आराम कर लूं। साथियों को खाना भी तो पहुँचाना है, वे सब दो घड़ी रात गये राह देखेंगे। न पहुँचने पर गड़बड़ होने का भी तो डर है। (दुशाला ओढ़कर बैठता है और खाना शुरू करता है।)

गंगा—बेटा, जब आग में हाथ दिया तो फफोलों का क्या डर! आराम से खा-पीकर जा, डर तो हर वक्त है ही। आज सर्दी भी तो कड़ाके की है······हाँ, तभी तो तुझे दुशाले की सूझी। शादी के बाद से ही इसे संचकर रखे रहा। उत्तम! इसे ओढ़कर तू तो बिल्कुल दुलहा-सा लगता है; मालूम होता है जैसे किसी को ब्याहने जा रहा है।

उत्तम—अब क्या दो-दो बार दुलहा बनायेगी, एक दफे से तबियत नहीं भरी क्या? और माँ! इसे संचे न रहता तो बता आज क्या ओढ़ता? ऐसे ही दिनों के लिए तो चीजें रखी जाती हैं जो वक्त पर काम आयें।

गंगा—हाँ, हाँ बेटा, क्यों नहीं? अगर तुझे जाना ही है तो फिर देर न कर। जब तू नहीं आया था, तब शान्ति कह रही थी कि बहुत से फौजी इधर से ही गए हैं, न जाने कब कोई कहाँ से आ जाए।

उत्तम—देख शान्ति, अगर कोई आवे भी तो खबरदार, जबान से एक शब्द भी न निकले, नहीं तो सब चौपट ही हो जायेगा और कुछ हाथ न लगेगा। फ़ौजी बात निकालने में बड़े होशियार होते हैं, वे कुछ उठा न रखेंगे। कोई कुछ पूछे तो उसका जवाब, एक नहीं हजार दफ़े—नहीं। आन रहे, बाकी चाहे जो हो।

गंगा—नहीं बेटा, तू उसकी फिकर छोड़। मेरे जीते-जी कोई ठाकुर के घर में सेंध नहीं लगा सकता। तू अपना काम जी खोलकर

करना। मैं इधर सँभाले हूँ। मुझे फ़ौज का डर नहीं; जब तेरे बाप के वक्त में डरी नहीं तो अब क्या मुझे फ़ौज डरायेगी ?

उत्तम—तुम्हें नहीं अम्मा, मैं तो तुम्हारी बहू के लिए कह रहा था। इन लोगों का जी ही हर वक्त काँपा करता है। पुरानी हड्डियों में ही लोहे का दिल होता है।

गंगा—मेरा साथ रहते-रहते बहू भी ठीक हो जायेगी। ठाकुर की बहू है! ऐसे ही नहीं हिम्मत छोड़ेगी, क्यों शान्ति ?

शांति—नहीं भाभी! भला डर की क्या बात है ? जो होना होगा, वह तो होगा ही।

उत्तम—पोटली में खाना तो ठीक से बँधा है न ? खुलेगा तो नहीं, ज़रा गाँठ और कस दे और मेरी पिस्तौल भी उठा दे, तब तक मैं तेरा बक्स ऊपर चढ़ाए देता हूँ।

(शांति पिस्तौल उठाने जाती है, मगर उसके हाथ से सरककर गिर पड़ती है, इधर उत्तम संदूक टाँड़ पर चढ़ाता हुआ रुककर देखता है—इतने में ही और ज़ोर की आवाज़ आती है और कुण्डी खटकती है।)—दरवाज़ा खोलो। दरवाज़ा जल्दी खोलो !

गंगा—उत्तम ! जल्दी भाग ! जल्दी भुसावल में; उत्तम भुसावल में।

(उत्तम घबराकर भागता है, दरवाजे पर धक्के पड़ते हैं ! दोनों औरतें चुप-चाप खड़ी रहतीं है। फिर आवाज़ आती है।)

दरवाज़ा फौरन खोलो।

गंगा—(हिम्मत भरी आवाज़ से)—कौन है ? नाम बताओ।

—दरवाजा फौरन खोलो, नहीं तो अभी टूटता है।

गंगा—(धीरज से)—बतलाते क्यों नहीं कौन हो तुम लोग ?

(बाहर से आवाज)—हम लोग फ़ौजी सिपाही हैं, फौरन कुण्डी खोलो ! खोलो !

(दो-तीन धक्के जोर से लगते हैं)

शान्ति—भाभी ! खोल दो, नहीं तो न जाने क्या हो ?

गंगा—ठहरो ! अभी खुलता है। (वह धीरे-धीरे जाकर कुण्डी खोलती है। अन्दर एक अंग्रेज पिस्तौल हाथ में लिए फौजी लिबास में आता है, उसके साथ दो आदमी और हैं जो उसके पीछे-पीछे संगीन लिए हैं।)

हजारासिंह—हुजूर ! मालूम होता है चिड़िया उड़ गई।

(कप्तान डूडल इधर-उधर देखता है और गिरी हुई पिस्तौल उसके पाँव की ठोकर से एक तरफ छिटक जाती है।)

डूडिल—हलो ! हलो ! यह क्या ! (उसकी तरफ बढ़कर) ओ, ये बात है ! हवलदार ! तुम्हारा चिड़िया गया तो जरूर, मगर देखो घोंसला गरम मालूम होता है। (पिस्तौल उठा लेता है। उसकी निगाह बँधे हुए खाने पर पड़ती है) हवलदार ! देखो उसका यह असबाब मालूम होता है ! खोलो। (डूडिल इधर-उधर घूमता है।)

हजारासिंह—गोविन्द खोल तो !

[गोविन्द पोटली खोलकर पूरी, तरकारी, मिठाई के कटोरदान अलग-अलग रखता है।]

गोविन्द—हवलदार ! साहेब ! इसमें तो खाना है, देखिए न।

हजारासिंह—ठीक ! सफर का खाना होगा। कई दिन के लिए मालूम होता है।

गोविन्द—या कई आदमियों के लिए हो, कौन जाने।

डूडिल—ऐसा मालूम होता है कि हम लोगों ने उसके खाने-पीने में दखल दिया, क्यों बुढ़िया ! ठीक बात है कि नहीं ?

गंगा—मैं क्या जानूं ! मैं गरीब बुड्ढी औरत हूँ; यहाँ अपनी बहू के साथ अकेली रहती हूँ।

डूडिल—बहुत ठीक है ! मैं कब कहता हूँ तुम बूढ़ी नहीं ! तुम गरीब भी है। हम तुमको अमीर बनाना चाहता है। तुम हमारी मदद करो; हम तुम्हारी मदद करेगा। तुम हमको चुपचाप बता दे कि भागा हुआ कैदी कहाँ है, सरकार बतलाने वाला को इनाम देगा।

गंगा—मुझे क्या मालूम ? मैं तो आपके ही मुँह से भागे हुए कैदी की बात सुन रही हूँ।

डूडिल—देखो, हम बहुत शरीफ आदमी है, हम तुम लोगों को परेशान करना नहीं चाहता। अभी-अभी तुम्हारे यहाँ कोई था। देखो उसका यह पिस्तौल है; उसके पाँव का निशान पगडण्डी पर है, वह आदमी तुम्हारे घर का है। उसको हमारे हवाले कर दो ! (शान्ति डर से सहम जाती है।)

शान्ति—(घबराहट में) इधर तो कोई आया नहीं, आपने भूल की है।

डूडिल—अच्छा हमारी भूल है, और पिस्तौल शायद आसमान से टूटकर गिरा है। वैल ! तुम भी झूठ बोलता है। (हजारासिंह से) —हवलदार ! देखो, एक-एक कोना छानो। यहीं कहीं मरदूद छिपा होगा।

हजारसिंह—हुजूर ! यही मेरा भी ख्याल है। (गोविन्द से) चल गोविन्द ! जरा अन्दर की खबर भी तो लें।

(दोनों एक दरवाजे से जाकर गुसावल से उत्तम को पकड़े हुए आते हैं। उत्तम को हथकड़ी लगी हुई है।)

डूडिल—ओ ! ओह आप यहाँ हैं ! हम लोग बहुत देर से आपकी राह देख रहा था ! कहिए, आपके और साथी कहाँ हैं ? (उत्तम चुपचाप खड़ा रहता है ।)

हजारासिंह—क्यों बूढ़ी ! यह आदमी कहाँ से आ टपका ! तुम तो कहता था कि—मैं क्या जानूँ ! इसी झूठ से परलोक बनायेगा। और क्यों ! (शान्ति की ओर देखकर)—तुम भी हाँ में हाँ मिला रहा था ! (शान्ति चुपचाप सिर झुकाए खड़ी रहती है ।)

डूडिल—देखो हवलदार ! मकान का पूरा तलाशी लो । शायद कुछ काम का चीज मिले । ऊपर देखो, क्या-क्या इसी बूढ़ी ने रख छोड़ा है ?

हजारासिंह—वह बक्स देख ! बहुत नया मालूम होता है, शायद अभी ही खरीदा होगा ।

गोविन्द—खरीदा नहीं, हवलदार साहेब । ससुराली माल है; यह देखो ! (वह लाल अंगा, पीला साफा और हाथी दाँत के बने चूड़ों की माला उठाता है जो नववधुएँ कुछ दिनों पहनकर रख देती हैं । चूड़ों की माला आधी ऊपर आधी नीचे लटकती रह जाती है।)

गोविन्द—हजूर कोई खास चीज़ नहीं दिखलाई देती ।

डूडिल—जाने दो । शिकार सामने है, यही कबूलेगा । (उत्तम से) बोलो जी !—हम फिर पूछता है तुम्हारा साथी लोग किधर है ?

उत्तम—मैं अकेला हूँ, मेरे साथी कोई नहीं ।

डूडिल—तुम्हारे मिलने के पहले इस घर में अकेला बुड्ढी और उसका बहू था; अब तुम अकेला है । सोचकर जवाब दो हम तुम्हारे साथियों को चाहता है ।

उत्तम—मैंने कह दिया, मैं नहीं जानता।

डूडिल—देखो, तुम नौजवान है, तुम्हारा बुड्ढी माँ है, तुम्हारा औरत है। तुमको मौत नहीं चाहिए, तुमको जीना चाहिए। सच-सच बतला दो, तुमको कुछ नहीं कहेगा।

उत्तम—यह आपकी तबियत, मैं यह जानता हूँ कि मैं यहाँ अकेला हूँ, और कोई मेरे साथ नहीं।

डूडिल—देखो हम फिर समझाता है। हमारा नाम तुम जानता है, हमने तुम्हारा ऐसा लाखों छोकरा मिट्टी में मिला दिया है। डूडिल का नाम लेते लोग काँपता है। सच बोलने पर हम हमेशा माफी देता है। बोलो! (अपने हाथ की पिस्तौल घुमाता रहता है) कैप्टेन डूडिल देरी नहीं माँगता!

गंगा—हम लोग बेकसूर हैं। आप नाहक जिद कर रहे हैं।

डूडिल—ओ! तुम हमको बताता है बेकसूर है। हम सब जानता है। डूडिल से कसूरवार नहीं छिपता। हम तुमसे लैक्चर नहीं माँगता। हम छोकरे से इसका साथी लोग का पता माँगता? (उत्तम से) सोच लो! हम और वक्त देता है।

उत्तम—मैं फिर कहता हूँ मेरे साथ और कोई नहीं।

डूडिल—ओ छोकरा, हमको चराना माँगता है। हमको पूरा-पूरा पता है कि तुम्हारा पन्द्रह साथी है जो जेल से भागा है, तुम सबका सरदार बना है। सबको तुम बगावत का हुक्म देता है। तुम्हारे हुक्म से तीन थाना लूटा गया। तुमने रेल की पटरी उखाड़ने का हुक्म दिया। तुम्हारे हुक्म से स्टेशन में आग लगी। बोलो, सच है या झूठ?

(उत्तम चुपचाप सिर झुकाए खड़ा रहता है।)

डूडिल—तुम चुप है, इससे सब सच है। देखो ! तुम्हारा जान खतरा में है, तुमको हम जान बचाने का मौका देता है। तुम अब भी हमें बतला सकता है, तुम्हारा साथी कहाँ फरार है। हम तुम्हारा भलाई का बात सोचता है।

(उत्तम फिर चुप रहता है)

हजारासिंह—अरे यार, बता भी दे। फिजूल की तकरार बढ़ाता है, क्या सिर पर मौत नाच रही है ?

उत्तम—जो कुछ मुझे कहना था मैंने कह दिया।

डूडिल—(गुस्से से) उठा लो इस जानवर को संगीन पर। झूठों का सरदार !

उत्तम—(तैश से) ज़रा जबान सँभालकर बोलिए। किसी आदमी को गाली देने का हक आपको नहीं है।

डूडिल—तुम हमको हमारा हक बतायेगा, हम तुम्हारा बोटी-बोटी सियार के हवाले कर देगा। तुम अपने को क्या समझता है ?

उत्तम—(धीरज से) मैं अपने को आदमी समझता हूँ। मैं ठाकुर हूँ।

डूडिल—आदमी समझता हूँ ! आदमी ! हम भी तुमको समझता है कि तुम क्या है—खूनी, कैदी, फरार, जानवर !

उत्तम—(थूककर) थू है तुम पर ! सौ बार थू है !

हजारासिंह—हुजूर, यह इस तरह नहीं कबूलेगा, कहिए तो बाहर ले जाऊं ?

डूडिल—ले जाओ, अभी ले जाओ, टाँग दो उलटा इस गद्दार को।

(हजारासिंह और गोविन्द उत्तम को घसीटते हुए बाहर ले जाते हैं ।)

डूडिल—देखो बुड्ढी, हम तुमसे कुछ बात करना माँगता है, तुम सुनने को तैयार है ?

गंगा—कहिए ।

डूडिल—यह आदमी तो तुम्हारा लड़का है न ?

गंगा—हाँ, हाँ, क्यों ?

डूडिल—तुम्हारा शायद एक ही लड़का है न ?

गंगा—जी ।

डूडिल—क्या तुम उसे प्यार नहीं करता, उसका जिन्दगी नहीं चाहता ?

गंगा—कौन माँ अपने लड़के की जिन्दगी नहीं चाहेगी । वे लड़कों पर अपने को मिटा सकती हैं ।

डूडिल—हमको भी तुमसे यही उम्मीद है । बहुत ठीक । हम चाहता है कि तुम अपना लड़का का जान की खतिर हमारा मदद करो ।

गंगा—मैं आपकी क्या मदद कर सकती हूँ ?

डूडिल—हम तुमसे कुछ नहीं चाहता, तुम सिर्फ हमें बताओ उसका साथी कहाँ है । देखो उन सबने सरकारी नुकसान किया है । सरकार तुम्हारा लड़का को छोड़ देगा, अगर वह अपना साथियों का पता कबूल दे । तुम भी जानता है कि वह सब कहाँ छिपा है । हमको धीरे से, चुपचाप बतला दो, हम तुम्हारे लड़के का जान बख्श देगा ।

गंगा—मुझे भला क्या मालूम वे सब कौन है, कहाँ हैं ?

डूडिल—अगर तुमको नहीं मालूम तो तुम्हारा बहू को मालूम होगा, तुम उससे पूछ सकता है, तब फिर हमको बतादे । हमको जल्दी नहीं । तुम खुद समझदार मालूम होता है ।

गंगा—जब मुझे नहीं मालूम तो उसे क्या मालूम होगा ?

डूडिल—देखो ! हर बात का जबाब 'नहीं' नहीं होता है । तुम समझता है झूठ बोलकर तुम सबका जान बचा सकता है । झूठ से कभी कोई फायदा नहीं होता । झूठा आदमी बहुत बड़ा पाप करता है । झूठा आदमी भगवान को मुँह नहीं दिखा सकता है । सच बोलने से बहुत फायदा होता है । दुनिया सच पर टिका है, झूठ पर नहीं । तुम झूठ बोलकर खुद अपना मुल्क का बड़ा नुकसान करेगा ।

गंगा—जब मुझे कुछ मालूम ही नहीं, तो सिर दे मारूँ ? आपको सच झूठ के माने बता रहे हैं । बड़े अफ़सोस की बात तो यही है ।

डूडिल—ठीक, ठीक, हम खूब समझता है । मगर देखो, तुम्हारा भलाई करना हम नहीं भूलेगा । शायद इस वक्त तुम्हारा मिज़ाज ठिकाने नहीं ; हम तुम्हारा उलझन भी ठीक समझता है । तुमको शायद डर है कि तुमको कहीं धोखा न हो और तुम्हारा लड़का जान गँवा दे । उसका हम वायदा करता है ।

गंगा—हम लोग किसी फौजी का यकीन नहीं करते, खासकर तुम्हारा ।

डूडिल—ओ यह बात है । तुमको हमारा बात मानना चाहिए । हम तुम्हारा मतलब का बात करता है ।

गंगा—यह तो भगवान ही जाने ।

डूडिल—(गुस्से से) तुम हमको ठीक नहीं समझा । हम तुम्हारा लड़के का खिलाफ़ नहीं । हम तो सिर्फ उसके साथियों के खिलाफ

हैं। उन्हीं लोगों ने लड़के को बरगलाया है, उसको हम अच्छी तरह जानता है। तुम्हारा लड़का खुद समझदार नहीं; वह अपने साथियों के कहने में आगया। तुम खुद सोच सकता है कि बुरे का साथ होने से अच्छा-से-अच्छा आदमी खराब हो सकता है। हवलदार ! इधर चलो (हज़ारासिंह अकेले आता है) देखो हवलदार ! यह बुड्ढी बहुत तकलीफ में है। यह अपने लड़के का मौत नहीं चाहता।

हज़ारासिंह—बुड्ढी माँ। क्या तू अपने लड़के की जान बचाना नहीं चाहती ? क्या तू यही चाहती है कि उसकी बोटियाँ चील और कौए खायें।

गंगा—कौन माँ ऐसा चाहेगी ? क्या तुम लोग इतने निर्दयी हो कि उसकी हत्या करके उसे चील-कौवों के सामने डाल दोगे ?

हज़ारासिंह—अगर तुमको खुद इससे कोई मुहब्बत नहीं तो हम लोगों को भला क्योंकर होने लगी ?

शान्ति—(जो बड़ी देर से दरवाजा पकड़े खड़ी है, धीरे-धीरे गंगा के पास आती है और उसका कन्धा पकड़कर) भाभी !

हज़ारा—क्या तुमको अपनी बहू का भी कोई ख्याल नहीं। तुम्हारे लड़के के न रहने पर जानती हो—

(गंगा स्तब्ध-सी खड़ी रहती है)

शान्ति—भाभी ! भाभी !

हज़ारा—दर-दर की भीख, सारी जिन्दगी दूभर। जानती हो, लड़के का मोल क्या होता है ? तुम नहीं जानती तो अपनी बहू से उसका मोल पूछ देखो।

शान्ति—(सिसककर) भाभी ! भाभी !

गंगा—(हज़ारा की ओर) मगर उसने तो कोई जुर्म नहीं किया।

हज़ारा—यह कौन कहता है जुर्म किया है; हम जोग सिर्फ खूनियों का पता चाहते हैं। अगर तुमने हमें न बताया तो हमसे बुरा कोई न होगा।

गंग—तो क्या तुम उसको फाँसी दे दोगे ?

हज़ारा—फाँसी नहीं; उसकी बोटी-बोटी जिन्दा नुचवा ली जायेगी; समझी ?

गंगा—(तैश में) तो समझ लेना कि अगर मेरे लड़के का बाल भी बाँका हुआ तो भगवान का वज्र तुम पर टूटेगा। तुम्हारा सत्यानाश हो जायगा। एक-एक बूंद खून के बदले तुम्हें कई एक जानें देनी होंगी।

((डूडिल पिस्तौल हिलाता हुआ उधर आता है जहाँ हजारासिंह बात कर रहा है।)

डूडिल—मालूम होता है तुम्हारा सर पर मौत नाच रहा है। हम तुम्हारा घर मिट्टी में मिला देगा। समझा ? झूठा मक्कार औरत !

गंगा—तुझे शर्म नहीं आती ! औरतों के मुँह लग रहा है। अगर मौत मेरे सिर पर नाच रही है तो तेरे सिर पर भी भगवान का कोप चढ़ रहा है। अगर तुझे मेरे बेटे की जान लेनी हो तो हमें पहले मार ले, मार ले। देर क्यों ? मेरे जीते जी ठाकुर के घर की आन नहीं मिट सकती।

हजारासिंह—तो यही फैसला है ?

गंगा—तू फैसला पूछता है; देश-भक्तों के घरवालों से फैसला पूछता

है ? नीच ! गुलाम ! स्वतन्त्र जीवों से फैसला पूछता है ! डूब मर ।

डूडिल—हजारा ! दे दे इस बुड्ढी को इसका बेटा का लाश ! (हज़ारा बाहर जाता है)

गंगा—बेटा की लाश !

डूडिल—ले, जो तू चाहती है ले—(बाहर बन्दूक चलने की तेज आवाज ।)

गंगा—हैं ! क्या ?

(डूडिल पिस्तोल हिलाता हुआ बाहर निकल जाता है ।)

गंगा—शान्ति ! मेरी बहू ! मेरी बेटी ।

शान्ति—(रोकर) भाभी ! बस !

गंगा—(प्रलाप से)-हाँ बस ! इस गोली का धुआँ उड़ जाने दो । उसके साथ मेरा उत्तम नहीं उड़ सकता ।

(वे दोनों धीरे-धीरे एक-दूसरे का कन्धा पकड़े बाहर जाती हैं वहाँ उत्तम सीने पर गोली खाए आखिरी हिचकी भर रहा है ।) गंगा दौड़कर उसके पास जाती है ।)

गंगा—मेरे बेटे ! (उसका सिर गोदी में रख लेती है)

शान्ति—नाथ ! (उसके पैर पकड़ लेती है ।)

उत्तम—माँ—साथी—बचे—घर—माँ ! (वह दम तोड़ता है ।)

गंगा—(धैर्य से) बेटे शान्त हो । साथी तेरे सब बचे हैं । ठाकुर का घर अमर रहेगा !!

शान्ति—भाभी ! इन्हें अन्दर ले चलो ।

गंगा—(धैर्य और शालीनता से) बेटी ! मौत से बड़ी ! मौत से बड़ी दूसरी चीज़ है आन ! ठाकुर की आन। हाँ ! उत्तम को अन्दर ला। सर्दी में क्या वह अकेला रहेगा ?

(दोनों उत्तम की लाश को उठाकर अन्दर लाती हैं। कमरे में लाश रखते ही चूड़ियों का गुच्छा, जो आधा लटक रहा है, झन्न से गिर पड़ता है। ज्यों-ज्यों चूड़ियाँ बिखरती हैं, त्यों-त्यों परदा धीरे-धीरे गिरता है।)

माँ-बाप

विष्णु प्रभाकर

परिचय—

विष्णु प्रभाकर

स्वतन्त्रता के बाद के दशक में हिन्दी के क्षितिज पर कई नये-नये सितारे उग आए, जिन्होंने एकांकी, रेडियो नाटक, रूपक और स्टेज-नाटकों में अपनी कुशाग्र बुद्धि और बदले हुए वातावरण की पृष्ठ-भूमि में कई प्रकार के प्रयोग किए। इनके अगुवा हम विष्णु प्रभाकरजी को निःसंकोच मान सकते हैं।

श्री विष्णुजी का व्यवसाय ही लिखना है; इसीलिए उनकी कल्पना नाटकों के अतिरिक्त, कहानी, उपन्यासों और लेखों के रूप में फूट पड़ती है। अभाव में पिसते हुए भी इनके होंठों पर सदैव मधुर मुस्कान खेलती रहती है।

इनके नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता इनकी अन्तर्मुखता है, जो इन्हें पिछली पीढ़ी के नाटककारों से अलग खड़ा करती है। बाह्य और अन्तर में पृथकता सिद्ध करने में यह बहुत कुशल हैं; शायद यह मन्त्र इन्हे अपने ही जीवन से मिला है।

प्रस्तुत एकांकी में भी अन्तर्मुखी भावना प्रधान है। आपकी भाषा मंजी हुई और चुस्त है। कहीं कहीं पर देशीय शब्दों का प्रयोग स्वाभाविकता ले आता है। पाठक की हृदगति के साथ-साथ नाटक की गति भी उत्तरोतर बढ़ती जाती है।

ऐसे कर्मठ युवकों से हिन्दी साहित्य को बहुत आशाएं हैं।

नाटक के पात्र

अशोक	—	कालिज का एक विद्यार्थी
यदुनाथ	—	अशोक का सहपाठी
दामोदरस्वरूप	—	अशोक का पिता
रामदास	—	यदुनाथ का पिता
अमृतराम	—	देश के प्रसिद्ध नेता
कलावती	—	अशोक की माँ
जगवन्ती	—	यदुनाथ की माँ
अनिता	—	अशोक की बहन

डाक्टर, अनवर, शमशेर, राजेन्द्र, आदि कुछ युवक

माँ-बाप

प्रथम दृश्य

[एक छोटे-से कस्बे में एक विशाल भवन का भीतरी भाग। अलग-अलग उसमें अनेक कुटुम्ब बसते हैं। इस समय वहाँ सन्नाटा है। कभी-कभी किवाड़ खुलने या बोलने की आवाज सुन पड़ती है। इसी भवन के ऊपरी भाग में एक छोटा सा कमरा है। अनुपात से सामान उसमें बहुत है। कपड़ों के तीन ट्रंक, दो चीड़ की बेड़, साइड टेबुल, तीन मोढ़े और तीन चारपाई। ऊपर की दीवार पर केवल नये साल का एक कैलेण्डर लटका है। एक अलमारी है, इसमें कुछ पुस्तकें, टीन के डब्बे, दो चायदानियाँ और दो-तीन गिलास हैं। ऊपर आले में सस्ती टायम-पीस पौने आठ बजा रही है।

कमरे के बीच में तीनों चारपाइयाँ पास-पास बिछी हैं। बिछावन साधारण है। दरवाजे के पास वाली चारपाई पर एक स्त्री अनमनो-सी बैठीहै। उसका रंग गोरा और आकृति सुन्दर है। उमर लगभग ४५ है। दूसरी चारपाई पर एक पुरुष आँखें बन्द किये लेटा है। उसे ज्वर चढ़ा है। क्षण-क्षण में जागकर वह स्त्री की ओर देख लेता है। फिर लम्बी साँस लेकर आँखें मीच लेता है। उसकी आयु ५७ के ऊपर है। तीसरी चारपाई पर लड़की कम्बल ताने गहरी नींद में सोई है। साहसा स्त्री चौंककर उठती है। नीचे कहीं तीन-चार आदमी बोलते सुन पड़ते हैं।]

स्त्री—(खुश होकर) जान पड़ता है अशोक आ गया !

पुरुष—(आँखें खोलकर) अशोक आ गया है ? कहाँ है ?

स्त्री—आप उठे क्यों ? लेट जाइए। मैं देखती हूँ।

[स्त्री शीघ्रता से चली जाती है। पुरुष उसी तरह बैठा रह जाता है। स्त्री फिर आती है।]

स्त्री—(घबराकर) आप अपनी कुछ भी चिंता नहीं करते। अशोक नहीं आया है। रामबाबू देहली जा रहे हैं। अशोक की छुट्टियाँ आज से शुरू होती हैं शायद कल आयेगा।

[वे चुपचाप आँखें बन्द कर लेते हैं। स्त्री अपनी खाट पर आ बैठती है।]

पु०—(आँखें खोलकर) सुनती हो ?

स्त्री—क्या जी ?

पु०—पंडित रामसेवक ने अशोक का वर्ष-फल बनाया है। कहता है इस वर्ष ग्रह बहुत सुन्दर हैं, जल्दी ही उसका नाम संसार भर में फैल जायगा।

स्त्री—(प्रसन्नता से भरकर) सच !

पु०—पंडित रामसेवक माने हुए ज्योतिषी हैं। उनकी बात झूठ नहीं हो सकती और देखो न, अभी से उसका नाम अखबारों में छपने लगा है।

[कहते-कहते पुरुष की छाती उमड़ती है, बोल नहीं सकता।]

स्त्री—(श्रद्धा से) पुत्र के भाग के साथ माँ-बाप की किस्मत जुड़ी होती है।

पु०—(गद्गद् होकर) कुछ भी हो, दुनिया इस बात को जान लेगी कि दामोदरस्वरूप ने आप मुसीबतें उठाईं परन्तु लड़के को शिक्षा देने में कसर न रखी।

[इसी समय पास की चारपाई पर लड़की बड़बड़ा उठती है]

स्त्री-पु०—(एक साथ चौंककर) क्या है अनिता ? क्या है बेटी ?

लड़की—(नींद में) भइया······(जोर से) भइया तुम कहाँ जा रहे हो ? (करुणा से) मैं तुम्हारे साथ चलूंगी, भइया (जोर से) ओ भइया······

स्त्री—(पास जाकर) अनिता ! अनिता !

अनिता—(हड़बड़ाकर) माँ !

स्त्री—क्या है बेटी ?

[अनिता उठ बैठती है। वह लगभग १५ साल की सुन्दर लड़की है। घबराहट के कारण इधर-उधर देखती है पर माँ को देखकर उसे ढाढ़स होता है।]

स्त्री—(पास बैठकर) सपना देखती थी ? बेटी क्या था ?

अनिता—बड़ा बुरा सपना था माँ, भइया न जाने कहाँ चले गये ?

स्त्री—(मुस्कराकर) कहाँ चले गये अनिता !

अनिता—माँ एक वाटिका में मैं और भइया बैठे थे कि एक युवक ने आकर कहा—'अशोक ! लड़ाई आरम्भ हो गई। वे पागल हो उठे हैं। आओ हम चलें।' भइया उसी वक्त दौड़ पड़े। मैंने कहा—'कौन लड़ रहा है, भइया ?' भइया नहीं बोले। और वे चले गये, उसी तरह नंगे पाँव और निहत्थे ! (कुछ रुककर) भइया नहीं आये माँ !

स्त्री—कल सवेरे आयेगा बेटी !

पु०—(सोचकर) सपने का फल अच्छा होगा। डरने की बात नहीं।

स्त्री-अनिता—(एक साथ) सच ! अच्छा होगा ?

पु०—हाँ, ऐसे सपनों से उमर बढ़ने का योग होता है ?

अनिता—तब तो ठीक है माँ ! (मुड़कर) ज्वर कैसा पिता जी ?

पु०—(हँसकर) उतर जायेगा बेटी ! (कुछ आहट पाकर ऊपर देखते हैं) रामदास, आओ रामदास ! कैसे आये ?

[रामदास का प्रवेश]

रामदास—ज्वर उतरा भइया !

दामोदरस्वरूप—उतर जायेगा ! यदु आया क्या ?

राम०—वही तो पूछता था ! अशोक भी नहीं दिखाई पड़ता। क्या बात है ? घर में तो रो-रोकर पागल हो रही है।

दा०—तुम्हारी स्त्री बड़ी कच्ची है। अरे ! वे क्या बालक हैं जो खो जायँगे !

रा०—यह तो मैं भी जानता हूँ भइया ! पर वह नहीं सुनती ! कहती है—तुम जाओ !

स्त्री—वह माँ है रामदास ! माँ का दिल बड़ा पापी होता है।

रा०—और तुम क्या हो भाभी ?

दा०—अरे रामदास ! यह कम नहीं है ! घण्टों से गाड़ी की गड़गड़ाहट कानों में गूंज रही है। यह अनिता तो सोते-सोते भी भइया-भइया चिल्ला रही थी। (हँसता है)

रा०—(पिघलकर) भइया ! साल में एक बार तो आते हैं।

[दामोदरस्वरूप आँखें मीच लेता है। रामदास उठकर चला जाता है। अनिता फिर मुंह लपेटकर लेट जाती है। केवल स्त्री (कलावती) उसी तरह बैठी रहती है। घड़ी में नौ बजे हैं। वह झुककर चारपाई के नीचे से एक टोकरा निकाल लेती है। उसमें सूत की कुकड़ियाँ और अटेरन रखा है। कलावती चुपचाप अटेरती है।]

[पटाक्षेप]

दूसरा दृश्य

[समय सन्ध्या के पाँच बजे हैं। उसी भवन के एक दालान में कलावती रसोई के प्रबन्ध में लगी है। अशोक अब तक नहीं आया। चिट्ठी आई है "कि शहर में अशान्ति है, हिन्दू-मुस्लिम लड़ाई का भय है ! आप लोग चिन्ता न करना। हमें बिलकुल डर नहीं है।" पर यहाँ सब चिन्ता कर रहे हैं। यदु की माँ (जगवन्ती) रो-रोकर पागल हो रही है। कलावती भी उद्विग्न है। दिल उसका भी धक्-धक् कर रहा है। उसी समय जगवन्ती वहाँ आती है। वह ४० के लगभग है। रोते-रोते उसका चेहरा फीका पड़ रहा है।]

जगवन्ती—तुमने सुना भाभी ! वहाँ लड़ाई हो रही है। अब क्या होगा ?

कलावती—ठीक होगा जगवन्ती ! कालेज तो शहर से दूर है।

जगवन्ती—तुम नहीं जानती भाभी, कालेज दूर होगा, पर वे जरूर गये होंगे।

कलावती—तुम आप ही सोच लेती हो कि वे गये होंगे। कालेज वाले क्या उन्हें जाने देंगे ?

जगवन्ती—चाहती तो मैं भी हूँ कि वे न गये हों, पर भाभी, मन नहीं मानता। मैं क्या करूँ ? (रोने लगती है।)

कलावती—(हँसकर) अरे तुम रोने लगीं ! कितनी कच्ची हो तुम। (रामदास को देखकर) क्या है जी ? क्या खबर आई ?

रामदास—(बोलते हुए हाँफता है) अखबार आया है !

जगवन्ती-कलावन्ती—(एक साथ) अखबार ! क्या लिखा है अखबार में ?

रामदास—(पढ़ता है)······शहर में बहुत जोर का दंगा हो गया है।······

कलावती—ओह !

जगवन्ती—कालेज का कुछ नहीं लिखा ?

रामदास—(उसी तरह पढ़ता हुआ) नगर कांग्रेस कमेटी दंगा रोकने का प्रयत्न कर रही है। उसने सरकार के साथ सहयोग किया है लेकिन सबसे बढ़कर कालेज की पार्टी है……

कलावती-जगवन्ती—(एक साथ काँपकर) कालेज की पार्टी……

रामदास—(उसी तरह) मानवता के पुजारी १५ नवयुवक पागलों की तरह आग में बढ़े चले जा रहे हैं। उन्होंने सैंकड़ों बेगुनाह आदमियों को मरने से बचा लिया है। उनका सरगना एक खूबसूरत और तगड़ा जवान है। उसका नाम अशोक है…!

कलावती—(काँपकर) अशोक ! मेरा अशोक !!

जगवन्ती—लेकिन यदु का नाम नहीं है। वह ज़रूर उसके साथ होगा। वह अशोक को नहीं छोड़ सकता।

कलावती—(अनसुना करके) अशोक अब नहीं आयेगा। अशोक का नाम……

[वह बोल नहीं सकती, उसका हृदय उमड़कर बह पड़ता है।]

रामदास—(ढाढ़स के स्वर में) भाभीं, रोती हो ? नहीं भाभी, जो पुण्यात्मा हैं, भगवान् उनकी रक्षा करते हैं।

जगवन्ती-भगवान् !……भाभी मैं कहती थी मेरा दिल घबरा रहा है। मैं जानती थी। बेटा माँ के दिल ही में तो रहता है। भाभी ! तुम रोती हो लेकिन मैं क्या करूँ……मैं क्या करूँ ? (रामदास से) सुनते हो मैं जाऊँगी……!

रामदास—कहाँ जाओगी ? वहाँ के रास्ते बन्द हैं।

कलावती—जगवन्ती—(एक साथ) रास्ते बन्द हैं !

रामदास—हाँ भाभी अब तो हमें परमेश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए।

जगवन्ती—(रोती हुई) परमेश्वर……परमेश्वर! ……

कलावती—(हठात् स्वस्थ होकर) रोओ मत जगवन्ती! रोना पाप है।

[अनिता का हाँफते हाँफते प्रवेश]

अनिता—माँ क्या भइया लड़ाई में चले गये।

कलावती—(दृढ़ता से) हाँ बेटी! तुम्हारे भइया ने यदु के साथ सैंकड़ों जानें बचाई! वे सकुशल हैं।

अनिता—(रामदास से) सचमुच चाचाजी?

रामदास—सच बेटी! अखबार है; तू पढ़ ले न!

[अनिता अचरज से पढ़ती है। आँखों में पानी भर आता है। जगवन्ती पागलों की तरह उसे देखती है। रामदास भी उमड़ते हुए हृदय से आँसू रोकता है। केवल कलावती मुस्कराती है। अनिता एकदम पढ़ना बन्द कर देती है।]

अनिता—चाची, तुम रोओ मत! मैं पिताजी से जाकर कहती हूँ कि भइया ने बहुत सुन्दर काम किया है।

[अनिता झपटकर जाती है। कलावती और रामदास भी पीछे-पीछे जाते हैं।]

जगवन्ती—(रोती हुई) ये लोग कितने कठोर हैं? पर मैं क्या करूँ! जिस दिन अशोक और यदु मुझे आकर प्रणाम करेंगे उसी दिन मैं समझूंगी परमेश्वर ने बड़ा काम किया है। नहीं…… नहीं……ओह मैं भी क्या करूँ?

[वह फूट-फूटकर रो उठती है। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

[समय प्रातः ८ बजे। स्थान दामोदरस्वरूप का वही कमरा। वे लेटे हैं। तीन ही दिन में उनकी दशा एक जन्मरोगी की-सी हो

गई है। मुख पीला पड़ गया है। उठते-उठते गिर पड़ते हैं। पास ही कलावती बैठी है।

दामोदरस्वरूप—रामसेवक पंडित की बात कितनी ठीक हो रही है। बच्चा-बच्चा अशोक का नाम लेता है।

कलावती—ऐसे पुत्र को पाकर हम धन्य हुए। न जाने हमने कितने पुण्य किये होंगे।

दामोदरस्वरूप—मैं चाहता हूँ उड़कर उसके पास पहुँच जाऊँ और छाया की तरह उसके साथ लगा रहूँ। (हठात् चौंककर) कौन ?

(आवाज़ सुन पड़ती है।) माँ ! पिताजी ! यदु भइया आये हैं। माँ······

कलावती और दामोदरस्वरूप—(एक साथ) अनिता ! यदु !!

[अनिता का प्रवेश, वह हाँफ रही है]

अनिता—माँ, पिताजी ! अभी यदु भइया आये हैं। वे कहते हैं, भइया कुशल से हैं।

कलावती और दामोदरस्वरूप—(एक साथ) कहाँ है यदु ? यदु कहाँ है ? (उठने की चेष्टा करते हैं।)

अनिता—नहीं, नहीं ! आप उठिए नहीं पिताजी, वे यहीं आरहे हैं।

[यदु का प्रवेश। जगवन्ती और रामदास भी हैं। यदुनाथ २० वर्ष का साँवला युवक है। उसके हाथ में चोट लगी है, पर वह खुश है। सबको प्रणाम करता है।]

कलावती-दामोदरस्वरूप—(एक साथ मिलकर) तुम जुग-जुग जिओ बेटा ! जीते रहो बेटा !

दामोदरस्वरूप—अशोक कैसा है यदु ?

यदुनाथ—सब ठीक है ताऊजी ! उन्होंने ही मुझे भेजा है कि आप लोग दुखी न हों। स्टेशन तक साथ आये थे। शीघ्र ही शान्ति होने पर वे भी आवेंगे।

दामोदरस्वरूप—अभी तक लोग लड़ रहे हैं ? कैसे हैं वहाँ के आदमी !

यदुनाथ—आदमी तो हमारे जैसे ही हैं। पर कभी-कभी आदमी के भीतर राक्षस जाग पड़ता है।

रामदास—परमात्मा की लीला है बेटा ! जो वह चाहता है वही होता है।

यदुनाथ—(एकदम तेज होकर) आपके इस परमेश्वर ने ही तो सब अनर्थ किया है। जो परमेश्वर आदमी को आदमी का रक्त पीने की प्रेरणा दे, उसे हम नहीं मानते। इस परमेश्वर ने इतनी सुन्दर पृथ्वी पर इतने भयानक आदमी क्यों पैदा किए…?

रामदास—(सकुचाकर) लेकिन बेटा उसकी आज्ञा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। और वह सब भले के लिए करता है।

यदुनाथ—(उसी तरह) यदि वह सब भले के लिए करता है तो क्यों आप लोग पागलों की तरह रोते हो ? क्यों नहीं परमेश्वर का विधान मानकर पुरुषों की तरह उत्सव मनाते कि तुम्हारे पुत्रों ने मरती हुई मानवता की रक्षा की है ?

दामोदरस्वरूप, रामदास और कलावती—(एक साथ) तुम क्या कहने लगे बेटा। नहीं-नहीं, बेटा, पागल यदु क्या बकने लगा !

जगवन्ती—(रोती-रोती) तू क्या जाने माँ-बाप का दिल कैसा होता है ?

यदुनाथ—जानता हूँ माँ ! मेरे लिए तुम्हारे प्राण निकल रहे हैं। अशोक की माँ, तुम चाहती होगी। पर माँ, क्या तुम जानती हो हमारे साथ और कितने माँ के लाल हैं। उनमें सिख हैं, मुसलमान हैं। उनके लिए क्या तुम्हारी आँखों से पानी की एक बूँद भी टपकी ? और जाने दो माँ, यदि मैं आकर तुमसे कहता—माँ !

आदमी आदमी के खून से होली खेल रहा है। मैं उसे रोकने जा रहा हूँ तो क्या तुम जाने देतीं ?

[सब एकदम चुप रह जाते हैं। सन्नाटा छा जाता है।]

यदुनाथ—बोलो पिताजी ! तुमने हमें कायर नहीं बना डाला ? तुम्हारी करुणा, तुम्हारा प्रेम, तुम्हारी विशालता, सब स्वार्थ की क्षुद्र सीमा में बँधे हैं।

कलावती—यदु ! तुम क्या कहने लगे ? तुम्हें किसने बताया कि हम नाराज हैं। हमें तुम पर इतना गर्व है कि छाती फटी जाती है ! बेटा ये प्रेम और अभिमान के आँसू हैं; लेकिन कहो तो तुमने क्या किया ?

यदुनाथ—(शांत होकर) हमने क्या किया यह हम नहीं जानते। अशोक ने जो कहा वही किया। वे आयेंगे तो सुना देंगे।

कलावती—अशोक सुनावेगा ? नहीं यदु ! वह भी क्या बोलना जानता है ?

यदुनाथ—(नम्र होकर) तुम ठीक कहती हो, अशोक भइया बोलना नहीं जानते। लेकिन ताई ! कर्मशील पुरुषों की बानी होती ही नहीं। अच्छा मैं यही कहने आया था कि हम सब कुशल हैं, आप लोग चिन्ता न करें ! मैं अभी जाऊँगा !

कलावती—अभी ?

यदुनाथ—हाँ अभी ! अधिक देर नहीं ठहर सकता। उन लोगों को छोड़कर क्या मुझे यहाँ बैठना सोहता है ?

जगवन्ती—लेकिन बेटा······!

यदुनाथ—लेकिन-वेकिन कुछ नहीं माँ ! मैं जरूर जाऊँगा। तुमने मुझे देख लिया। दूसरे बेटों की माताएँ भी तो तरस रही होंगीं ! पिताजी······!

रामदास—(चौंककर) मैं कहता था कि गाड़ी शाम को······!

यदुनाथ—(बीच ही में) यह कैसे हो सकता है पिताजी ! मैं इसी गाड़ी से जाऊँगा ।

रामदास—(उद्विग्नता को रोककर) अच्छा, अच्छा ! मैं अभी आता हूँ (एक क्षण रुककर) मैं कहता था कि मैं भी तुम्हारे साथ चलूँ तो···।

जगवन्ती—हाँ हाँ, तुम जरूर चले जाओ ।

यदुनाथ—नहीं पिताजी ! केवल मैं जाऊँगा । और अभी जाऊँगा । आप अभी ताँगा मँगा दीजिए ।

[ताँगा मँगाने के लिए रामदास जाता है]

यदुनाथ—(हँसकर) इस धर्म ने आदमी को आदमी का खून पीना सिखाया है । इस ईश्वर ने ही हमको कायर बना दिया है !

जगवन्ती—लेकिन मैं कहती थी तू खाना तो खा ले ।

यदुनाथ—नहीं माँ ! (एक क्षण रुककर) अच्छा चलो !

[जगवन्ती जल्दी से चली जाती है]

यदुनाथ (उठकर)—मैं अब जाऊँ ?

दामोदरस्वरूप—(अनसुनी करके) यदु बेटा ! क्या सचमुच अशोक का नाम लोग श्रद्धा से लेते हैं ?

यदुनाथ—हाँ ताऊजी ! अशोक भइया ने वह काम किया है जो बड़ी-बड़ी आत्माएँ नहीं कर सकतीं ।

दामोदरस्वरूप—सचमुच तुम ऐसा समझते हो यदु !

यदुनाथ—मैं कहता हूँ अशोक भइया सदा के लिए अमर हैं ।

दामोदरस्वरूप—(गद्‌गद् होकर) तुम जुग-जुग जीओ बेटा ! (एक क्षण रुककर) कुछ भी हो, दुनिया कहेगी दामोदर गरीब था, लेकिन सन्तान के प्रति उसने अपना कर्तव्य पूरा किया ।

[तभी रामदास की आवाज सुनाई देती है—'यदु ! ताँगा आ गया है ।' यदु उठता है । अनिता और कलावती भी उठती हैं ।]

यदुनाथ—नमस्कार ताऊजी !

दामोदर—परमात्मा तुम्हें कुशल से रखे बेटा ! तुम जल्दी लौट आना।

[कलावती उसे छाती से भरकर माथा चूम लेती है। आँखों में पानी भर आता है। यदु चुपचाप बाहर निकल आता है। केवल अनिता साथ जाती है।]

अनिता—यदु भइया ! तुम उन सबसे कहना कि तुम्हारी बहन अनिता को तुम जैसे भाइयों पर बड़ा गर्व हो रहा है। वहाँ से लौटो तो एक बार यहाँ अवश्य आना—मैं बाट देखूँगी अच्छा !

[अनिता बड़ी शीघ्रता से यह सब कुछ कह गई। उसकी आँखें भर आईं, पर वह मुस्करा उठी। इससे पहले कि यदु उसे कुछ कहे वह झपटकर लौट गई, वह देखता ही रह गया।]

[पटाक्षेप]

चौथा दृश्य

[वही विशाल भवन। वही दामोदरस्वरूप का कमरा। अब उसमें केवल एक चारपाई है। उस पर उनका एकमात्र बेटा अशोक लेटा है। उसे खूब तेज बुखार चढ़ा है। उसके सिर, हाथ और पैरों पर पट्टियाँ बँधी हैं। पट्टियों पर जगह-जगह लहू चमक आया है। उसकी आँखें बन्द हैं। दामोदरस्वरूप कुंठित, मलिन उसके सिरहाने की तरफ फर्श पर बैठे हैं। कलावती पागल-सी बेटे को देख रही हैं, अगल कोने में अनिता है जो क्षण में गम्भीर और क्षण में द्रवित हो उठती है।

फर्श पर दामोदर के पास रामदास, जगवन्ती, यदु और पाँच-छः नवयुवक बैठे हैं। वे सब दुःख और सुख के फाँसे अशोक की ओर देख रहे हैं।

डाक्टर भी है। वह गौर से अशोक की परीक्षा कर रहा है।]

डाक्टर—(गम्भीर होकर) मैं इन्हें होश में ला सकता हूँ परन्तु······

दामोदरस्वरूप—परन्तु क्या डाक्टर साहब !

डाक्टर—मैं कहता था रात गुजर जाती तो ठीक था।

दामोदरस्वरूप—डाक्टर साहब ! मैं गरीब हूँ, पर अशोक के लिए जो कहोगे वही करूँगा। जो माँगोगे वही दूँगा। दुनिया नहीं कह सकेगी कि दामोदर बेटे के लिए कुछ करने में झिझका था।

डाक्टर—नहीं ! मैं यह नहीं सोचता। अशोक के लिए मैं कुछ कर सका तो धन्य हूँगा।

एक युवक—डाक्टर ! मुझे अचरज है, भइया के प्राण कहाँ अटके हैं।

दूसरा युवक—ये अकेले ही तो स्टेशन से लौट रहे थे कि पाँच सौ मजहबी दीवानों ने घेर लिया।

तीसरा युवक—डाक्टर ! जिसने सैंकड़ों जानें बचाईं उसका यह अन्त !

[सहसा अशोक आँखें खोल देता है।]

अशोक—(क्षीण स्वर में) माँ !

कलावती—(अतिशय गद्‌गद् होकर) हाँ बेटा !

अशोक—कौन रोता था माँ ! तुम थीं ? तुम रोओ नहीं। मैं अच्छा हो जाऊँगा और न भी हुआ तो भी तुम रोना मत। एक के बदले असंख्य अशोक तुम्हें मिलेंगे माँ !

कलावती—मैं नहीं रोती बेटा ! मैं रोऊँगी क्यों ?

अशोक—अनिता कहाँ है ?

अनिता—(चौंककर) भइया !

अशोक—अनिता ! तूने बुलाया था न ? हम आये हैं,

—क्या कहती है तू ? आरती करनी होगी ?

—जा बुला ला अपनी सखियों को और अपने जी की निकाल ले······।

[अशोक फिर आँखें बन्द कर लेता है। प्रसिद्ध नेता डाक्टर अमृतराम प्रवेश करते हैं।]

अमृतराम—कहाँ है अशोक ?

दामोदरस्वरूप—(उठकर) इधर है इधर। आप यहाँ आइए। (प्रफुल्लित होकर) अब डर नहीं है। आप आये हैं। परमेश्वर ने आपको भेजा है, आप जरूर अशोक को बचा लेंगे।

अमृतराम—आप अशोक के पिता हैं ?

दामोदरस्वरूप—(गर्व से) जी हाँ ! मैं अशोक का पिता हूँ, वह माँ है, वह बहन अनिता है। मैं अशोक के लिए कुछ भी उठा न रखूँगा !

[अमृतराम गम्भीर होकर अशोक की जाँच करते हैं, उनका चेहरा चिन्तित हो जाता है।]

अमृतराम—अच्छा हो यह रात शान्ति से बीत जाय।

अशोक—पिताजी ! (अशोक आँखें खोल देता है।)

दामोदरस्वरूप—तुम बोलो मत बेटा !

अशोक—यदु कहाँ ?

यदुनाथ—(आगे बढ़कर) मैं यहाँ हूँ।

अशोक—तुम जानते हो यदु, हमने क्या प्रतिज्ञा की थी ? मेरे माँ-बाप को मालूम न होने देना कि अशोक अब दुनिया में नहीं है।

यदुनाथ—(चुपचाप नीचे गरदन करके आँसू टपकाने लगता है) तुम ऐसा क्यों कहते हो अशोक !

[अशोक नहीं बोलता। सब फिर चिन्तातुर होकर एक-दूसरे को देखते हैं।]

अमृतराम—(हठात् चौंककर) पक्षी उड़ना चाहता है !

कलावती, दामोदरस्वरूप, अनिता — (घबराकर एक साथ) क्या-आ — आ ?

रामदास, जगवन्ती — (एक साथ) आप देखिए तो डाक्टर साहब !

डाक्टर — (सिर हिलाकर) देख तो रहा हूँ, खेल तो समाप्त हो चुका है। एक दिव्यात्मा पृथ्वी पर उतरी थी, आज लौट गई !

[सब हठात् पिघल उठते हैं। कलावती हा-हा करके अशोक से लिपट जाती है। जगवन्ती उसे सम्हालती है।]

दामोदरस्वरूप — (सहसा जाकर) क्या करती हो कलावती ! रोती हो ! अशोक ने कहा था रोना मत, और तुम अशोक की बात टालती हो।

[कलावती नहीं सुनती। उसकी छाती फट गई है। उसकी वाणी कमरे की दीवारों को कँपा देती है। सब सोये हुए-से उठते हैं। अमृतराम बाहर निकल जाते हैं।]

कलावती — (बिलखती हुई) मैं माँ हूँ माँ ! मेरा सिर मेरा मांस······

दामोदरस्वरूप — लेकिन मैं बाप हूँ। अशोक का बाप हूँ। अशोक वीर पुत्र था, मैं वीर पुत्र का वीर बाप बनूँगा। सुनो यदु, रामदास, अनिता, अनवर, शमशेर, राजेन्द्र ! तुम सब सुनो। मुझे अशोक पर गर्व है। मैं दुनिया को कहने का मौका न दूँगा कि अशोक जैसे महान् और दिव्य आत्मा का पिता दामोदर-स्वरूप रोया था। मैं हँसूगा !

[सचमुच दामोदरस्वरूप बड़े जोर से हँस पड़ता है।]

अनिता — (जोर से रोकर) पिताजी ! पिताजी !!

दामोदरस्वरूप — (अनिता को छाती में भर) अशोक की बहन होकर रोती हो ! तुझे अशोक चाहिए न ? देख कितने अशोक हैं।

यदु, अनवर आदि—आदि सब तेरे अशोक हैं। और अनिता यह अखंड भारत अनेक अशोकों से भरा पड़ा है, फिर तू क्यों रोती है ?

[दामोदरस्वरूप फिर हँस पड़ते हैं। सब युवक हतप्रभ उस दुबले-पतले अधेड़ पुरुष के साहस को देखते हैं। सहसा यदु आगे बढ़कर कलावती को उठा लेता है।]

यदुनाथ—माँ, तुम हम सबकी माँ हो ! हमें आशीर्वाद दो माँ ! भारत के समस्त पुत्र अशोक के पद-चिह्न पर चल सकें।

शमशेर, रामदास, अनिता और अनवर—(एक साथ बोलते हैं।) मां

हम मानव रक्त को व्यर्थ न जाने देंगे।

माँ ! मानव रक्त से हम नई मानवता को जन्म देंगे।

माँ ! हम सारे हिन्दुस्नान में अशोक ही अशोक पैदा कर देंगे।

माँ ! तुम सारे हिन्दुस्तान की माँ हो।

[सहसा कलावती उठकर उन्हें देखती है, उसकी आँखें चमक उठती हैं। दामोदरस्वरूप धीरे-धीरे अशोक के बालों में उँगली फेरते हैं। अमृतराम अन्दर आते हैं।]

अमृतराम—बाहर अपार जनता है यदु ! अशोक को ले चलो।

दामोदरस्वरूप—(उठकर) चलिए डाक्टर साहब, हम तैयार हैं।

[और वे स्थिरगति से बाहर चले जाते हैं। उन्होंने कुहनी उठा कर आँखें पोंछ ली हैं। रामदास उनके पीछे जाता है उसकी आँखें गीली हैं।]

[पर्दा गिर जाता है।]
